वेदभागवतम्

लेखक

भागवतभूषण रमणलाल कृ. शास्त्री

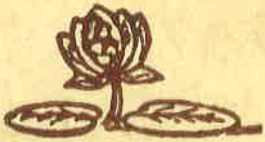

प्रकाशक
श्री वल्लभ रिसर्च इंस्टीट्यूट
जतीपुरा (मथुरा) उ० प्र०

☐ प्रकाशक

श्री वल्लभ रिसर्च इंस्टीट्यूट
पो. जतीपुरा (गिरीराजबाग),
मथुरा (उ. प्र.)

☐ **प्रथम संस्करण** 1985

☐ मुद्रण व्यवस्था

अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्
द्वारा स्थापित 'श्री वल्लभ प्रकाशन न्यास'
'यशो भवन', 1, न्यू पलासिया, स्ट्रीट नं. 2,
इन्दौर-1 (म.प्र.)

☐ मुद्रक

नईदुनिया प्रिन्टरी,
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर-9.

श्रीहरि:

दो शब्द

श्री रमणलाल शास्त्री की शोधपूर्ण पुस्तक "वेद-भागवतम्" ग्रन्थसाहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। श्रीमद् भागवत् में श्री वेदव्यास भागवत को निगम कल्पतरु का गलित फल बतलाते हैं। वस्तुत इस बात की साक्षी में यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है।

वेद के व्यवस्थापक वेदव्यासजी की कृति में ब्रह्मसूत्र "संकलित गीता" श्रीकृष्ण-वाक्य और श्री भागवत् अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। भारतीय वाङ्मय को उनकी आधारभूत यह अनुपम देन है।

इस विषय पर आज तक अनुसन्धान अधूरा है और उसे आगे बढ़ाने में यह ग्रन्थ महान् सहायक सिद्ध होगा। भगवान के निश्वासरूपी वेद और उसका मृदुल अयाचित फल श्रीमद् भागवत वेदमाता गायत्री का एक अनेकार्थी भाष्य है।

इस अनेकार्थी विवेचना से भगवान और वेद की विविधरूपता स्पष्ट हो जाती है। इसी से हमारे आचार्यों ने इस पर विशेष परिश्रम किया है। प्राय: सभी संप्रदाय में इसकी टीका उपलब्ध है किन्तु पुराण साहित्य को न्यूनदृष्टि से देखने के कारण भागवत के प्रथमश्लोक की टीका में इसे वेदवृक्ष का फल मानकर व्याख्या करने में समाज में कुछ लोग उपेक्षा करते रहे। श्री रमणलाल शास्त्री के इस छोटे किन्तु महत्वपूर्ण ग्रन्थ से इस दिशा में शोध का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

"जन्माद्यस्य यतः" इस ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में इस ग्रन्थ की वेदात्मकता श्रीवल्लभाचार्य सूचित करते हैं किन्तु उसका विधिवत् स्वरूप इस ग्रन्थ से विधिवत् समझने में सहायक सिद्ध होगा। इस प्रकार के अन्वेषण से अध्ययन की अनेक विधाओं के द्वार खुल जाएंगे। वेद की सार्वभौमता के साथ यह उनका एक जीवन परक अर्थ सिद्ध करता है। वैदिकसाहित्य में जगत् को सत्य मानकर अनेक व्याख्या दी गई हैं जो आज भी मानव-जीवन को व्यवस्थित करने में अपना पूर्ण महत्व रखती है।

यह संभव है कि वेदवृक्ष की लाक्षणिकता मानकर लोग वर्तमान में उसके अस्तित्व को प्रकारान्तर से स्वीकार करें किन्तु शब्द का अपना स्वरूप विज्ञान में आज भी स्वीकृत है और शब्द तरंगों से आकार को जन्म तो आज भी दूरदर्शन आदि के माध्यम से दिया ही जाता है। शब्द की नित्यता और उसकी खोज हिटलर के समय में जर्मनी में हुई थी

जिसमें गीता आदि के शब्द पुनः आकाशतत्व से संकलन करने की बात चर्चा का विषय बनी थी। यह कार्य संपन्न हुआ या नहीं इसकी पीछे कोई जानकारी महायुद्ध के बाद नहीं मिल सकी।

फिर भी शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति भारतीय तत्वज्ञान स्वीकार करता है। इस प्रकार इस प्रयोग से हमारे समक्ष वैज्ञानिक शोध और उसकी अनेक विधियों के साथ भारतीय पुराण साहित्य और वेद की तुलनात्मक विवेचना को बहुत अवकाश प्राप्त होता है। भागवत में वर्णित अनेक कथा प्रसंग वेद में भी उपलब्ध हैं। पुरुरवा और पुरंजन जैसी अनेक बातों का स्पष्टीकरण हम इससे प्राप्त कर सकते हैं।

वैदिक साहित्य की संपूर्ण शंकाओं का निवारण भी हमें भागवत में प्रयास करने पर मिल जाता है। श्री भागवत **"अथाऽतो धर्म जिज्ञासा"** एवं **"अथाऽतो ब्रह्म जिज्ञासा"** इन दोनों महावाक्यों का एक गम्भीर ग्रन्थ हैं यह इस अध्ययन से सिद्ध होता है।

इस ग्रन्थ पर अधिक विस्तार से वैदिक साहित्य का संकलन किया जाना आवश्यक है। श्री वेदव्यास के इस ग्रन्थ को समाधि भाषा की जो संज्ञा दी गई है वह गंभीर चिन्तन से स्पष्ट प्रतीत होने लगता है।

श्री वल्लभ शोध संस्थान ने पूर्व श्री हरिहरनाथ टंडन के वार्तासाहित्य पर लिखे प्रबन्ध का प्रकाशन किया था और आज इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का हमें प्रकाशन करते हुए गर्व का अनुभव हो रहा है। श्री रमणलाल शास्त्री जी की यह शोधपूर्ण कृति आगे अनुसंधान करने वालों को आधार प्रदान करेंगी। श्रीवल्लभाचार्य की भावना और हमारे सभी आचार्यों का भागवत पर परिश्रम इस ग्रन्थ की महत्ता का साक्षि है। जनता जनार्दन ट्रस्ट के लिए यह प्रकाशन हम सादर समर्पित करते हैं और इस अवसर पर श्री शास्त्री जी को बार-बार स्मरण करते हैं।

हमें आशा है सहृदय वाचकवृन्द इसे अपना कर भारतीय वाङमय के गौरव की अभिवृद्धि करेंगे। हम प्रथमपीठ की ओर से सभी सहयोगियों को साधुवाद के साथ अनेक आशीर्वाद प्रदान करते हैं। साथ ही भगवान से यही अभ्यर्थना है कि इस ग्रन्थ को सर्वांगीण सफलता मिले और यह प्रयास अपने चरम को प्राप्त हो ऐसा अनुग्रह करें। हमारी यही श्री शास्त्रीजी को श्रद्धांजलि है।

भवदीय

गो.र.प्रथमेश

जगद् गुरु श्रीवल्लभाचार्य

प्रथमपीठ, जतीपुरा-कोटा

।। ॐ नमः श्रीकृष्णाय ।।

प्रास्ताविक

वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा ।
अत्युत्तमा ततो भाति पृथग्भूता फलाकृतिः ।।
निगमकल्पतरोर्गलितं फलम् ।
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।

भारतवर्ष के सनातन धर्म के प्रायः सभी सर्वमान्य ग्रन्थों का मूल वेद-साहित्य है। वेद-साहित्य श्रुति-ग्रन्थों के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस साहित्य का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है---

१. **वेद**–वेद चार हैं––ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ।

२. **उपवेद**–उपवेद चार हैं––आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद और स्थापत्यवेद । आयुर्वेद अर्थात् औषधि-विद्या, धनुर्वेद अर्थात् बाणविद्या, गान्धर्ववेद अर्थात् गायन विद्या और स्थापत्यवेद अर्थात् मकान, प्रासाद, मंदिर, नहर आदि का निर्माण एवं शिल्प विद्या ।

३. **वेदांग**–वेदांग छः हैं––(१) शिक्षा-जीवन के नियम, (२) व्याकरण, (३) निरुक्त-वैदिक परिभाषा को समझाने वाले नियम, (४) ज्योतिष-खगोल विद्या, (५) छंद–काव्यविद्या तथा (६) कल्प-विधि-विधान ।

४. **ब्राह्मण ग्रन्थ**–ये ग्रन्थ वेदों के अंग रूप हैं। इनमें विधि-निषेध तथा अर्थवाद बताये गये हैं।

५. **आरण्यक ग्रन्थ**–जिन ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना अरण्यों में हुई अथवा जो ग्रन्थ अरण्यवासी महर्षियों के जीवन से संबद्ध हैं, उन्हें आरण्यक ग्रन्थ कहते हैं।

६. **उपनिषद्**–उपनिषदों की संख्या लगभग २५० है। इनमें ईश, केन, कठ, मुंडक, मांडूक्य आदि ग्यारह मुख्य हैं। उपनिषदों को वेद-साहित्य का अन्त भाग माना गया है। इनमें जीव, जगत् तथा जगदीश्वर का विशुद्ध स्वरूप बताकर जीव को मोक्ष दिलाने वाले मार्ग का निरूपण किया गया है।

७. **दर्शन–सूत्रग्रन्थ**–अत्यंत अल्प शब्दों में विशद अर्थ प्रकट करनेवाले पूर्ण वाक्य को 'सूत्र' कहते हैं। दर्शन ग्रन्थ सूत्र शैली में लिखे गये हैं । जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी यह शैली अपनाई गई है। दर्शन ग्रन्थों में श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र, नारद भक्ति सूत्र, सांख्य दर्शन, वैशेषिक दर्शन, पूर्व मीमांसा

आदि मुख्य हैं। इन ग्रन्थों में वेदों तथा उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का संग्रह है। कुछ ग्रन्थों में अर्थवाद और जीवन की प्रक्रिया है। पाणिनि-रचित अष्टाध्यायी के सूत्रों में व्याकरण के नियम हैं।

इन सबको वैदिक साहित्य कहते हैं। इस साहित्य का दूसरा नाम 'श्रुति' है। अत्यंत प्राचीन काल के महर्षि इस संपूर्ण साहित्य को कंठस्थ रखते तथा शिष्य-परंपरा को पढ़ाते थे। उस काल में लेखन-कला का इतना विकास नहीं हुआ था अतः वेद-विद्या श्रवण द्वारा प्राप्त की जाती थी। यही कारण है कि इस विद्या को 'श्रुति' कहा गया है।

समय बीतता गया और दिन-प्रतिदिन मनुष्यों की बुद्धि मंद होती गई। तब उनके जीवन को उत्कृष्ट और अनुशासनबद्ध बनाने के लिए उपर्युक्त साहित्य के सिद्धान्तों को ही सरल एवं काव्यमय स्वरूप में प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार जो साहित्य निर्माण हुआ वह 'उपांग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उपांग चार हैं--

१. **धर्मशास्त्र**–इसमें तत्कालीन जीवनोपयोगी धार्मिक आचार-नियम बताये गये हैं। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पाराशर स्मृति आदि स्मृति ग्रंथों का धर्मशास्त्र में समावेश होता है। स्मृति-ग्रंथों की संख्या सौ से ऊपर है। इनमें २८ मुख्य हैं।

२. **मीमांसा**–मीमांसा के दो भाग हैं–पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा में कर्मविद्या का निरूपण है। उत्तरमीमांसा में ब्रह्म विद्या की चर्चा है।

३. **न्याय**–न्याय शास्त्र में स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वों का विचार किया गया है तथा सत् का स्वीकार और असत् का परित्याग करानेवाले विवेकपूर्ण जीवन-साधना के उदात्त मार्ग का निरूपण किया गया है।

४. **पुराण**–जिसमें (१) जगत् की उत्पत्ति, (२) विकास, (३) वंश-मानववंश और राजवंश, (४) मन्वंतर-कालगणना और (५) वंशानुचरित (भिन्न-भिन्नवंश में उत्पन्न आदर्श स्त्री-पुरुषों के जीवन-चरित्र) हों, उसे 'पुराण' कहते हैं।[1] अथवा, आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि को 'पुराण' कहते हैं।[2]

---

[1] सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं यस्मिन् पुराणं तत् प्रकीर्तितम्॥
(शुक्रनीति ४. ३. ५१, ५२)

[2] आख्यान–स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः।
उपाख्यान–श्रुतस्यार्थस्य कथनमुमाख्यानं प्रचक्षते।
गाथा–गाथास्तु पितृपृथिवीप्रभृति गीतयः।
कल्पशुद्धि–श्राद्धकल्पादि निर्णयः।
(विष्णुपुराण, श्रीधरी टीका)

प्रत्यक्ष देखी हुई बात कहना 'आख्यान' है। सुनी हुई बात कहना 'उपाख्यान' है। दिव्य, प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा कही हुई बात कहना 'गाथा' है। नियम बताकर जीवन के नियम-बद्ध कर्मों का निर्णय करना 'कल्पशुद्धि' है।

उपर्युक्त चार उपांग भी उतने ही प्राचीन हैं जितना कि वैदिक साहित्य। ये भी वैदिक साहित्य के समान ही महत्त्वपूर्ण हैं।

श्रीमद्भागवत एक महापुराण है। इस महापुराण में रहे हुए वेदकालीन सिद्धान्तों का दर्शन कराना प्रस्तुत ग्रन्थ का आशय है। यह तभी संभव हो सकता है जबकि यह सिद्ध हो जाय कि पुराण और वैदिक साहित्य समकालीन हैं तथा वैदिक सिद्धान्तों और पौराणिक सिद्धान्तों में साम्य है।

विश्व के किसी भी देश में प्राचीनतम समय का इतिहास एवं आख्यान उपलब्ध होते हैं; उनमें ही उस देश का सांस्कृतिक गौरव सुरक्षित रहता है। भारतवर्ष की भी यही स्थिति है और इसीमें पुराणों का उद्भव, विकास और महत्त्व है।

जब वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा दर्शन ग्रन्थों का गहन तत्त्वज्ञान सामान्य लोगों के लिए समझना मुश्किल हो गया, जीवन जीने की धर्म-प्रणालिका में अव्यवस्था आने लगी, धर्म-रहस्य शिथिल होने लगा तब उस समय के ज्ञानी महर्षियों ने वैदिक विचारों को, विशेषतः ज्ञान, कर्म, भक्ति एवं वैराग्य-दर्शक विचारों सिद्धान्तों को सर्वसामान्य जन-समुदाय सरलता से समझ सकें तथा अपने जीवन का उद्धार कर सकें, इस हेतु से जिस जीवनलक्षी साहित्य की रचना की, उसीका नाम 'पुराण' हुआ।[३] यह पुराण-साहित्य भी वेदकाल जितना ही प्राचीन है। इसके द्वारा ही धर्म-निर्णय किया जाता था।[४] यह पुराण साहित्य वेद-साहित्य के गूढ़ तत्त्व को समझने का सर्वमान्य साधन बना।[५]

इस प्रकार वैदिक साहित्य और पुराणों में पोष्यपोषक-सम्बन्ध है। वैदिक साहित्य श्लोक-गाथा-रूप पुराणों का आश्रित है, यह निम्न-लिखित उदाहरणों से स्पष्ट होता है। इन उदाहरणों में वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ऐतिहासिक एवं पौराणिक साहित्य के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इनमें आये हुए शब्द स्वयं स्पष्ट होने से अर्थ नहीं दिये गये।

(१) ऋचः सामानि छन्दांसि **पुराणं** यजुषा सह।
उच्छिष्टां जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः॥
(अथर्व.११,७, २४)

---

३. पुरा परंपरां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्। (प. पु. १, २, ४३)

४. पुराणे धर्मनिर्णयः। (प.पु.)

५. इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। (महाभारत)

(२) तमितिहासश्च **पुराणं** च.....चानुव्यचलन् ।।
(अथर्व. १५, ६, १२)

(३) तदेषाभियज्ञ**गाथा** गीयते ।
आसंदीयति.....जनमेजयः ।
तदप्येते **श्लोका** अभिगीताः ।
याभिर्गोभि....मध्यतोऽददात् ।
तदप्येष **श्लोको**ऽभिगीयते ।
मरुतः परिवेष्टारो.....सभासदः । (ऐ. ब्रा.)

(४) एवमिमे.....**सपुराणाः** सस्वराः ।
(गोपथ ब्रा. पू. भा. प्र. ३)

(५) अध्वर्यु.....**पुराणं**माचक्षीत । (शतपथ१३.४.३१३)

(६) वाचा वै.....इतिहास**पुराणं**...व्याख्यानानि ।
(बृहदारण्यक ४-१-२)

(७) अरेऽस्य.....पुराणं विद्या...। (बृ. उ. २-४-१०)

(८) ऋग्वेदं.....**इतिहासपुराणं**....।
(छा. उ. ७-१-१)

(९) शतं चैका....उत्क्रमणे भवन्ति (छा. ८-६-६)

स्मृति-ग्रन्थों तथा वर्तमान में उपलब्ध पुराणों में भी वेदकालीन मूल पुराण का उल्लेख निम्न प्रकार से है––

(१) अथ **पुराणे** **श्लोका**वुदाहरन्ति ।
उद्यतामाहृतां.....दुष्कृतकारिणः ।
(आपस्तम्ब धर्मसूत्र १-१९-१३)

(२) तस्य ह वा एते **श्लोकाः** ।
प्रियव्रतकृतं.....सप्तवारिधीन् (भा. ५-१-३९)

(३) तस्येमां **गाथां** पाण्डवेय पुराविद उपगायन्ति ।

गयं नृपं कः.....भगवत्कलामृते ।। (भा. ५-१५-९)

इस प्रकार 'पुराण' शब्द, उसके श्लोक तथा गाथाएँ वैदिक साहित्य में अत्र-तत्र उपलब्ध होने से सिद्ध होता है कि वैदिक युग में भी प्रचंड पुराण-साहित्य लोकगाथा के रूप में बिखरा पड़ा था और वैदिक साहित्य के साथ उसका पोष्य पोषक सम्बन्ध था।

इन वेदों की प्रचुर मंत्र-राशि तथा वैदिक युग में उपलब्ध आदि पुराण के श्लोक-संग्रह को चिरंजीव एवं व्यवस्थित रखने का श्रेय महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास को है।

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये ।
जात : पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरे : ।।

(भा. १.४.१४)

वैदिक साहित्य और श्रीमद्भागवत के वैदिक समन्वय में महर्षि कृष्ण द्वैपायन के जीवन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनका मूल नाम कृष्ण था। यमुना नदी के द्वीप में जन्म होने के कारण वे 'द्वैपायन' कहलाये। वसिष्ठ ऋषि के शक्ति नामक पुत्र के पौत्र पराशर ऋषि से वासवी अथवा सत्यवती नामक पत्नी में उत्पन्न होने के कारण वे 'पाराशर्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए। वेदों का संविभाग कर उनको व्यवस्थित करने के कारण 'व्यास' कहलाये और बदरिकाश्रम में तपस्या करने के कारण उनका नाम 'बादरायण' पड़ा।

वैदिक मंत्रों का उद्भव ब्रह्मा के मुख से हुआ था। अनेक ऋषि-महर्षि इन मंत्रों के द्रष्टा थे। व्यासजी के जीवन-काल में ये वैदिक मंत्र तथा तत्कालीन पुराण-साहित्य इधर-उधर बिखरा हुआ गाथाओं के रूप में, शिष्य-परंपरा से मुखोद्गत पड़ा था। वेद मंत्रों को कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। लेखन-कला का उस काल में पूर्ण विकास नहीं हुआ था। गाथा, इतिहास एवं पुराण साहित्य भी विपुल मात्रा में था, किन्तु वह अस्तव्यस्त था। अतः इस संपूर्ण साहित्य को सुरक्षित रखने के शुभ हेतु से उन्होंने (व्यास ने) यह साहित्य व्यवस्थित किया, अतएव वे 'व्यास' कहलाये। ऐसा करने में उन्होंने तीन बातें ध्यान में रखीं--(१) युगधर्म में काल से होने वाला परिवर्तन, (२) समय के साथ-साथ होनेवाला मानव-शक्ति एवं बुद्धि का ह्रास, (३) मनुष्य-जीवन में होने वाली आयुष्य-क्षति। इन तीन परिवर्तनों को देखकर व्यासजी ने उपलब्ध वेद-मंत्रों को चार भागों में विभक्त किया। उन्होंने ऋग्वेद पैल ऋषि को, यजुर्वेद वैशंपायन को, सामवेद जैमिनि को और अथर्ववेद

सुमन्तु को दिया। इस प्रकार उन्होंने तत्कालीन वैदिक साहित्य की रक्षा की। ये ही वैदक मंत्र शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा पढ़े गये और अनेक शाखाओं में विभक्त हुए।

इसी प्रकार पुराण का भी विभाजन हुआ। एक ही पुराण के सर्ग, विसर्ग आदि प्रमुख विषयों को लक्ष्य में रखकर और भिन्न-भिन्न देवों का महत्त्व प्रस्थापित करते हुए उन्होंने स्कंदपुराण, कूर्मपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण आदि सत्रह पुराणों की रचना की। इतने पर भी व्यासजी को आत्मसंतोष नहीं हुआ। तब नारदजी के उपदेश से श्रीमद्‌भागवत की रचना की। 'पुराण-निरीक्षण' नामक ग्रन्थ के लेखक श्री त्र्यंबक गुरुनाथ काले के मतानुसार व्यासजी ने पुराण-निर्माण का यह कार्य ई. स. पू. १२६६ से ई. स. पू. १२६२ के बीच के पाँच वर्षों में किया। इस प्रकार प्रायः चार लाख श्लोकों का पुराण-साहित्य व्यासजी के बुद्धि-वैभव के कारण भारत को स्थिर रूप में प्राप्त हुआ। व्यासजी ने अपने इस कार्य द्वारा वैदिक और लौकिक वाङ्‌मय को नष्ट होने से बचाया। इसीलिए इनके विषय में यह प्रशस्ति-वचन प्रचलित हुआ––

अचतुर्वदनो ब्रह्माद्विबाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनः शंभुर्भगवान् बादरायणः॥

वर्तमान युग में वैदिक साहित्य को प्रमाण-भूत तथा लोकसाहित्य (पुराण साहित्य) को गौण माना जाता है। व्यासजी की उपर्युक्त व्यवस्था से वैदिक वाङ्‌मय संहिताओं के रूप में तथा लोक-साहित्य पुराण एवं इतिहास-ग्रंथों के रूप में स्थिर हुआ। किन्तु, दोनों की विचारधारा समान होने पर भी श्रुति-साहित्य को विशेष मान्यता प्राप्त हुई, जबकि पुराण-साहित्य को अपेक्षाकृत कुछ कम मान्यता मिली। इसके कारण निम्न लिखित हैं––

(१) वैदिक मंत्रों का उपयोग अधिकांश रूप में यज्ञों के लिए होता था। अतः उन्हें स्वरबद्ध कण्ठाग्र रखने की प्रथा पड़ गई। परिणाम स्वरूप वैदिक मंत्र अविकृत रहे। पुराण-साहित्य का मात्र श्रवण होता था, अतः उसे कण्ठस्थ करने की आवश्यकता न थी। परिणाम यह हुआ कि कालक्रम से उसमें परिवर्तन होता रहा।

(२) अध्ययन करते समय एवं यज्ञ में वैदिक मंत्रों का सस्वर पाठ होता था। इससे उनमें एकातानता तथा साम्य रहा और ह्रस्व-दीर्घ का भी फर्क नहीं पड़ा। पुराणों की कथा सूत जाति के वक्ता करते थे। पुराण-श्रवण कराना उनका कर्त्तव्य बन गया। अतः सामान्य जन-समुदायने उसमें होने वाले संशोधन–परिवर्धन पर ध्यान नहीं दिया।

(३) यद्यपि वैदिक तथा लोक साहित्य परस्पर सम्बद्ध था, तथापि वैदिक साहित्य यज्ञ-विषयक, परमात्मलक्षी एवं आत्मोद्धारलक्षी होने के कारण अधिक महत्त्व पूर्ण माना जाने लगा, जबकि लौकिक वाङमय उसके समान ही प्राचीन तथा गौरवान्वित होने पर भी सामान्यजनकल्याणाभिमुख और व्यवहारलक्षी होने के कारण उसका महत्त्व कम होने लगा ।

(४) ऋषि-मुनियों, प्राज्ञों और पंडितों ने केवल वैदिक साहित्य का ही अध्ययन करना, उसे ही प्रमाणभूत मानना शुरु किया । उन्होंने 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' कहकर स्त्री-सहित अन्य सर्व को श्रुति-साहित्य से विमुख रखा । इससे भी लोकसाहित्य की महत्ता कम हुई।

(५) सनातन धर्म एक होने पर भी व्यासजी के बाद, जिस प्रकार एक ही वटवृक्ष की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ बनकर मूल वृक्ष के लिए आधाररूप बनती हैं उसी प्रकार, सनातन धर्म को कायम रखते हुए अनेक संप्रदायों का आविर्भाव हुआ। पुराण-साहित्य पर इसका भी असर पड़ा। एक संप्रदाय जिसे प्रमाणभूत मानता था उसे दूसरा अप्रामाण्य गिनता था। इससे पुराण-साहित्य कहीं प्रामाण्य और कहीं अप्रामाण्य माना जाने लगा। विष्णु पुराण, श्रीमद्भागवत, देवीभागवत आदि पुराण आदरणीय बने, शिवपुराण और स्कंद पुराण जैसे पुराण प्रासंगिक हुए तथा कुछ पुराणों की पुराणों में मात्र गिनती ही होती थी।

(६) महर्षि वेदव्यास ने वेदों का संविभाग कर चार संहिताएँ बनाई। उस समय उन्होंने पुराणों के रक्षण और प्रवचन का काम सूत रोमहर्षण को सौंपा।

पुराने समय में जातीय अध:पात क्वचित् ही होता था। व्यासजी के समय में एसा एक वर्ग था । ब्राह्मण स्त्री तथा क्षत्रिय पुरुष से जो वर्णशंकर जाति उत्पन्न हुई वह 'सूत' जाति कहलाई। उसमें ब्राह्मणों का ब्रह्मत्व और क्षत्रियों का क्षात्रतेज कम था। अत: ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने सूतों की गणना अपनी जाति में नहीं की। इतना ही नहीं, उन्हें वेदाधिकार से भी वंचित रखा गया।

यह बात दीर्घदर्शी व्यास के ध्यान में आई । अत: उन्होंने सूत जाति को पुराण-संरक्षण का काम सौंपा। उन्होंने इस कार्य को सहर्ष स्वीकार किया। इनमें कई विद्वान भी थे । ऋषि-गण उनका आदर करें, इस दृष्टि से, जब-जब दीर्घसत्र-यज्ञ होते थे तब-तब प्रति नौवें दिन सूत का पुराण-प्रवचन रखा जाता था । उन्हें ब्रह्मासन दिया जाता था । वसिष्ठ और विश्वामित्र जैसे महर्षि-राजर्षि नम्र-आत्म-भाव से सूतजी की कथा का श्रवण करने में पुण्य मानते थे । इस प्रकार पुराणों की प्रतिष्ठा बढ़ी ।

जैमिनीय अश्वमेध पर्व में इतिहास पुराण का संरक्षण करने वाली तीन जातियों का उल्लेख है– सूत, मागध और बन्दी।

सूता ये च पुराणस्थानुच्चरन्ति नृपान् सदा।
प्रेतलोकगतान् शूरान् वर्णयन्ति च मागधाः ॥

वर्तमानान् नृपान् सम्यक् ये तु संग्रामकारिणः।
वर्णयन्ति प्रबन्धैर्ये बन्दिनस्ते प्रकीर्तिताः ॥

(जैमिनीय अ. प. ५५)

सूत पुराणों के रूप में प्राचीन काल के राजाओं के कीर्तिचरित्र का वर्णन करने का काम करते थे। मागध निकट भूतकाल के राजाओं का कीर्तिगान करते थे जब कि बन्दी जीवित शूरवीर राजाओं का चरित्रगान किया करते थे।

रोमहर्षण को महर्षि व्यास से पुराण-विद्या प्राप्त हुई थी। उनका पुत्र उग्रश्रवा भी उनके जैसा ही विद्वान था। 'पुराण-समुच्चय' एवं श्रीमद्भागवत की 'भक्तरंजनी' टीका में बताया गया है कि उग्रश्रवा सूत ने त्रय्यारुणि, कश्यप, सार्वणि, अकृतव्रण, वैशंपायन और हारित-इन छः ऋषियों से छः, पिता रोमहर्षक से चार तथा व्यासजी से सात इस प्रकार सत्रह पुराणों का अभ्यास व्यासाश्रम में रहकर किया था। 'श्रीमद् भागवत तुम्हें शुकदेव पढ़ाएँगे' ऐसी व्यास की आज्ञा थी, अतः श्रीमद्भागवत का अध्ययन उन्होंने शुकदेवजी से किया। (अहं चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात्। भा. १. ३. ४३)

जब-जब यज्ञ एवं पुराण-प्रवचन होते थे तब-तब ऋषि-महर्षियों का महासमाज एकत्रित होता था। उस समय समग्र समाज के विवादग्रस्त प्रश्नों का का निर्णय होता था। इसीलिए यह उक्ति प्रचलित हुई—पुराणे धर्मनिर्णयः।

इस प्रकार वेदकालीन प्राचीन पुराण के स्वरूप की जो चर्चा ऊपर की गई है उसमें निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) पुराण साहित्य वेदकाल में लोक-साहित्य के रूप में-इधर-उधर बिखरी हुई गाथाओं तथा सैद्धान्तिक श्लोकों के रूप में विद्यमान था। अतः यह साहित्य अत्यन्त प्राचीन एवं श्रद्धेय है।

(२) वैदिक साहित्य तथा पुराण साहित्य परस्पर सिद्धान्तपूरक है, अतः उनमें पोष्य-पोषक संबन्ध है।

(३) वैदिक साहित्य 'पुराण' शब्द के अनेकशः उल्लेख द्वारा तथा गाथाओं के समावेश से स्थान-स्थान पर पुराणों के सिद्धान्तों का समर्थन करता है।

(४) भक्ति, ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न करके धर्म निर्णय द्वारा सामान्य व्यक्ति के मन का संतुलन बनाये रखना ही पुराण-साहित्य का मुख्य ध्येय है ।

(५) वैदिक साहित्य का उपयोग यज्ञादि कार्य में होता था । केवल महाबुद्धिशाली वर्ग ही उसके ज्ञान को प्राप्तकर उस ज्ञान द्वारा मोक्ष-प्राप्ति करता था । अतः उस साहित्य में—उस ऋषिप्रणीत वाणी में अल्प मात्र परिवर्तन करने को भी पाप माना जाता था। यही कारण है कि आज पर्यन्त यह साहित्य उसके मूल स्वरूप में सुरक्षित रहा है ।

(६) पुराण-साहित्य भी इतना ही प्राचीन, वर्चस्वी एवं श्रद्धेय होने पर भी, समय बीतने पर, देश, काल, जाति, जन-स्वभाव एवं संप्रदाय के असर से उसमें क्षेपक-विभाग का समावेश होने लगा। वर्तमान काल के उपलब्ध पुराणों में व्यासजी के नाम से समाविष्ट सांप्रदायिक श्लोकों से पुराणों का स्वरूप विकृत बन गया है।

यदि तटस्थ वुद्धि से निम्नलिखित बातों का विचार किया जाय तो पुराणों का क्षेपक विभाग दूर हो सकता है। ऐसा होने पर पुराणों का विशुद्ध सुन्दर एवं प्रेरणाप्रद स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा।

(अ) जिनमें एक देव की महत्ता स्थापित कर अन्य की निंदा की गई हो

(आ) प्रचलित भाषा-प्रवाह में विकृति दिखाई दे,

(इ) अन्य धर्म अथवा संप्रदाय को महत्त्व दिया गया हो।

(ई) मात्र चमत्कार-प्रदर्शन के हेतु अघटित घटना का असत्यपूर्ण वर्णन हो।

(उ) भविष्य-कथन किया गया हो।

-इस प्रकार के अश्रद्धेय अंश दूर करने से पुराणों के शुद्ध स्वरूप तथा महर्षियों की पवित्र सुरता के दर्शन होंगे।

वैदिक और पौराणिक साहित्य का पोष्य-पोषक सम्बन्ध है तथा पुराण-साहित्य का वेद-साहित्य पर कैसा प्रभाव था, यह आगे बताया जा चुका है। श्रीमद् भागवत में आया हुआ वैदिक समन्वय बताना ही इस ग्रन्थ रचना का आशय है, अतः भागवत में स्थित वैदिक स्वरूप कैसा है, इसका विचार यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

श्रीमद्भागवत में वैदिक साहित्य निम्नलिखित प्रणाली से आया हुआ है——

(१) कुछ स्थानों में केवल एक-दो शब्दों के परिवर्तन के साथ वेद के मूल मंत्र के रूप में।

(२) मंत्र के आशय को सुरक्षित रखकर किये हुए भाषांतर के रूप में।
(३) वैदिक भाषा जैसी भाषा का प्रयोग कर रचे हुए श्लोक के रूप में।
(४) वैदिक गाथा का अपनी भाषा में विस्तार।
(५) वैदिक मंत्र में स्थित गूढ़ आख्यायिका के रूप में।

यह समग्र 'वेद भागवत' ग्रंथ उपर्युक्त पाँच विषयों पर आधारित है। इसके उपरान्त , श्रीमद्‌भागवत, श्रीमद्‌भगवद्‌गीता और वेद-इन तीनों की एकसूत्रता बताना भी इस ग्रंथ का आशय है। इस कार्य से यह प्रसिद्ध उक्ति सिद्ध होगी—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः ।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहित ।।

यह श्रीमद्‌भागवत ब्रह्मसूत्र के गूढ़ अर्थों को स्पष्ट करने वाला, भारत के अर्थस्वरूप-गीता के सिद्धान्त का निर्णय कर स्पष्टता प्रदान करने वाला, भगवती गायत्री का भाष्य रूप तथा वेद के अर्थ को स्पष्ट करने वाला है।

अब यहाँ भागवत से कुछ ऐसे श्लोक उद्धृत करते हैं, जो उपर्युक्त पाँच विषयों में वेद के साथ समन्वय बताते हैं—

(१) **वैदिक मंत्रों का स्पष्ट भाषान्तर—**

(अ) **आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।**
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।
(भा. ८.१.१०)

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।
(यजु. ४०.१)

यजुर्वेद के इस मंत्र में भागवत ने 'ईशा' के बदले 'आत्मा' तथा 'सर्वं' के बदले 'विश्वं' शब्द रखा है। बाकी का मंत्र ज्यों का त्यों है।

(ब) **नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःश्रृंगाय तन्तवे ।**
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः ।।
(भा. ८.१६.३१)

श्रीमद्‌भागवत का यह श्लोक और निम्नलिखित वैदिक मंत्र समानार्थी है—
चत्वारि श्रृंगा त्रयो अस्य पादा

द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।

(यजु. १७.९१)

भागवत के श्लोक तथा वेद के मंत्र में शब्द समानार्थक है।

(२) मंत्र का आशय सुरक्षित रखकर रचे हुए श्लोक--

(अ) पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः।*

(यजु. ३१.३,४)

तुलना करें--

पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः।
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः ।।

(भा.२.६.१९)

(ब) न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो
न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्।

(केनोपनिषद् १,३,३७)

तुलना करें--

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथामलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधक निषेधतयात्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ।।

(भा. ११.३.३६)

(३) वैदिक भाषा जैसी ही भाषा में वेद-मंत्र का अनुवाद--

(अ) परो रजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य गर्भो मनसेदं जजान।

---

* यजुर्वेद में पुरुष सूक्त अत्यन्त प्रसिद्ध सूक्त है। उसमें १६ मंत्र हैं। (यजु. अध्याय ३१, मंत्र १-१६) श्रीमद्भागवत ने इस सूक्त का आशय लेकर द्वितीय स्कंध के छठे अध्याय में (श्लोक १५ से २७ तक) जो अनुवाद किया है वह देखें।

सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे
हंस गृध्राणं नृषद्रि गिरामिमः ।।

(भा. ५.७.१४)

यह श्लोक भागवत का गायत्री मंत्र है। इसमें सूर्योपासना के वैदिक गायत्री मंत्र का ही आशय स्पष्ट है। तुलना करें—

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

(यजु. ३.३५)

(ब) **सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ**
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न--
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ।।

(भा. ११.११.६)

तुलना करें—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

(मुण्डकोपनिषद् ३.१.१)

(४) **वैदिक गाथाओं का भागवत में आविष्कार--**

(अ) **ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः।**
उर्वशी विरहान्मुह्यन् निर्विण्णः शोकसंयमे ।।
त्यक्त्वात्मानं व्रजन्तीं तां नग्नउन्मत्तवन्नृपः।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः ।।

(भा. ११.२६.४,५)

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे....स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे।

(ऋ. १०.९५.१-१८)

ऋग्वेद के इस सम्पूर्ण सूक्त का आशय श्रीमद्भागवत में दो स्थानों में दृष्टिगोचर होता है--(१) नौवें स्कंध के १४वें अध्याय में तथा (२) ११ वें स्कंध में २६ वें अध्याय में। इनमें भी ९.१४.३४ में तो 'अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे' ये स्पष्ट ही हैं।

(ब) इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानघ।
वराह तोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः।।

(भा. ३. १३.१८)

यहाँ से शुरू कर ३.१३.४७ तक की वराह-कथा का बीज तैत्तिरीय संहिता में दृष्टिगोचर होता है–

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाचरत्। स इमामपश्यत्। तां वराहो भूत्वाऽहरत्। स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत। स पृथ्वीमध आर्च्छत्।

शतपथ ब्राह्मण में भी देखिए––

इतीयती ह वा इदमग्रे पृथिव्याः स प्रादेशमात्रो तामेमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः पतिः।

(श.ब्रा. १४.१.२.११)

इस प्रकार तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा भागवत में एक ही विचार का विस्तार स्पष्ट दिखाई देता है।

इसके उपरान्त श्रीमद्भागवत ने अपनी लाक्षणिक शैली में वैदिक साहित्य का गाथा-विस्तार निम्नलिखित रूप में किया है––

(१) ब्रह्मदेव की सरस्वती के लिए अभिलाषा– भा. ३.१२.२८–३३
ऋग्वेद १०.६१.७; ऐ-ब्रा. ३.३.३३ ३.३१.३६

(२) मत्स्यावतार–कथा भा. स्कं. ८, अ.२४
शतपथ ब्राह्मण

(३) वामनावतार-कथा–– भा. ८. अध्याय १८-२३
यजुर्वेद ३४.४३; यजुर्वेद ५.१८

(५) वैदिक मंत्र में स्थित गूढ़ आख्यायिका के रूप में*

---

* लगभग २६ वर्ष पहले प्रकाशित, पं. नीलकंठ शास्त्री-रचित, 'मंत्र भागवत' नामक ग्रन्थ ('मंत्ररहस्य प्रकाशिका' टीका-सहित) से, तथा प.पू. प्रातःस्मरणीय वेददर्शनाचार्य म.मं.श्री गंगेश्वरानंदजी के गुरु गंगेश्वर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित एवं श्री सुरजन दास स्वामी एम.ए. द्वारा संपादित तथा प.पू. स्वामी श्री गंगेश्वरानंदजी के समन्वय-भाष्य से युक्त 'शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता' के तृतीय अध्याय से यह विभाग उद्धृत किया गया है। इसके लिए लेखक इन दोनों ग्रन्थकार महोदयों का ऋणी है।

(अ) यजुर्वेद के तीसरे अध्याय के ४७ वें मंत्र में ग्रथित श्रीकृष्ण-कथा——

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वाऽस्तं प्रेत सचा भुवः॥

(यजुर्वेद ३.४७)

एक बार ब्रह्मा, रुद्र आदि देव द्वारिका आये। उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण से स्वधाम-गमन के लिए प्रार्थना की।

कर्मकृतः : (सत्पुरुषों तथा धर्म की रक्षा एवं दुष्टों के विनाश के लिए) कर्म करने वाले आपने अनेक

अक्रन् : कर्म किये (अब)

मयोभुवा : सुख उत्पन्न करने वाली (अविद्या का नाश कर अतिशय आनंद देने वाली)

वाचा : वाणी (गीतोपदेश अथवा उद्धवोपदेश) के द्वारा

देवेभ्यः : देवों के हितार्थ

कर्म : कर्म

कृत्वा : संपादन कर

सचाभुवः : (जो देव-विभूतियाँ आपके साथ आयी हैं उन) सब अनुचरों के साथ

अस्तं प्रेत : आप स्वधाम में पधारें।

श्रीमद्भागवत——

यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम।
शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं विभो॥
नाऽधुना तेऽखिलाधार देवकार्यविशेषितम्।

× × × ×

ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे॥

(भा. ११.६.२५–२७)

जब भगवान श्रीकृष्ण द्वारिका में थे तब ब्रह्मादि देवों ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की——"हे पुरुषोत्तम! यदुवंश में उत्पन्न हुए आपको १२५ वर्ष हो चुके हैं। हे अखिलाधार! अब देवकार्य पूर्ण हो गया है। अत: यदि आपकी इच्छा हो तो स्वधाम पधारें।

यहाँ भागवत ने उपर्युक्त मंत्र का स्पष्ट अनुवाद किया है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

(ब) अब मंत्रभागवत से एक समन्वयात्मक मंत्र देखिये (यजुर्वेदसमन्वय भाष्य, पृष्ठ ८७)--

यद्गोपावददितिः शर्म भद्रं मित्रा यच्छन्ति वरुणः सुदासे।
तस्मिन्नातोकं तनयं दधाना मा कर्म देवहेलनं तुरासः॥

(मं.भा. गोकुलकाण्ड १५, ऋ. ७.६०-८)

बालक श्रीकृष्ण को गोकुल में ले जाने के लिए वसुदेवजी को आदेश--

यद्--जो स्थान
गोपावत्-गोप-ग्वालों से संयुक्त है और जहाँ
अदितिःमित्रः वरुणः -अदिति, सूर्य और वरुण
सुदासे--शोभनाय दानाय शुभ दान के लिए
शर्म भद्रं यच्छन्ति--कल्याणमय सुख तथा शान्ति देते हैं।
तस्मिन् तोकंतनयम्--उस स्थान में बालक पुत्र को
आदधानः--ले जाइए।
हे तुरासः--हे चंचल मनोवेगवाले वसुदेव!
देवहेलनम्--(मोह से) देवों की अवहेलना
कर्म मा (कुरुत)--न करें। अर्थात् देव की इच्छा का अनुसरण करें।

श्रीमद्भागवत--

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः
सुतं समादाय स सूतिकागृहात्।

(भा. १०.२.४६)

प्रचोदितः--यदि कंसाद् बिभेषि त्वं
तर्हि मां गोकुलं नय।

अर्थात् हे वसुदेव! भगवान से प्रेरित आपको कंस का डर लगता हो तो मुझे गोकुल में ले जाइए। इसके बाद वसुदेव सूतिका-गृह (कारागृह) से पुत्र को गोकुल ले गये।

इन उद्धरणों से मालूम होता है कि,

(१) वैदिक साहित्य अत्यन्त प्राचीन साहित्य है।

(२) वैदिक साहित्य के उपांगों में पुराणों की भी गिनती है।

(३) वैदिक साहित्य में पुराणों का उल्लेख मिलता है, अतः पुराण-साहित्य भी मान्य साहित्य है। इस साहित्य में श्रीमद्भागवत की भी गणना होती है, क्योंकि उसमें भी वैदिक गाथाएँ हैं।

(४) वेदों का संविभाजन करने वाले व्यास तथा पुराणों के रचयिता व्यास (कृष्ण द्वैपायन) एक होने से वेदों और पुराणों में एकवाक्यता है। वेदपैलादि महर्षियों को प्राप्त हुए और कर्म तथा ज्ञान प्रधान होने के कारण अविकृत रहे। जबकि पुराण व्यवहारदर्शी और जीवनलक्षी साहित्य होने के कारण तथा सूत, मागध एवं बंदियों को प्राप्त होने से कालक्रम से उनमें संशोधन-परिवर्धन होता रहा, सांप्रदायिक विचार तथा क्षेपक भाग का समावेश होता रहा। यह अंश हटा देने पर पुराण भी वेदमान्य ही हैं।

(५) सत्रह पुराणों की रचना करने के बाद महर्षि व्यास ने श्रीमद्भागवत की रचना की। (अ) उसमें वैदिक वाङ्मय तथा दर्शनग्रन्थों के विचार अपनी प्रौढ़ भाषा में ग्रंथित किये। (ब) उसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का समन्वय है। (स) अद्वैत वेदान्त को भक्तिपूर्वक जीवन में उतारकर मोक्ष प्राप्त करना भागवत का मुख्य ध्येय है। (द) भागवत में दैनिक व्यवहार के मानवीय, सामाजिक, आर्थिक, राजकीय तथा आध्यात्मिक आदि सब विषयों की विचारणा है, जो कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए पथ-प्रदर्शक है। (इ) इसकी भाषा प्रौढ़, शैली सुन्दर भाव-गम्य तथा आख्यायिकाएँ सर्व जन एवं सर्व वय के अनुरूप होने के कारण रोचक हैं।

इस प्रास्ताविक लेख को समाप्त करने के पहले वेद तथा भागवत का महिमा-गान करना अनुचित न होगा।

वेद-महिमा

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् ऋग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

(मेक्समूलर की अंग्रेजी उक्ति का अनुवाद)

जब तक इस पृथ्वी के ऊपर पर्वत रहेंगे और नदियाँ बहेगी तब तक लोगों में वेद का प्रचार चलता रहेगा।

भागवत-महिमा

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः ।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः ।।

श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्र (अध्यात्मविद्या) का स्पष्ट अर्थ बताने वाला, भारत की तरह जीवन व्यवहार के सब प्रश्नों का हल देने वाला, गायत्री का विशद भाष्य तथा वेद के अर्थ (हेतु) को स्पष्ट करने वाला है।

आज से लगभग ५०० वर्ष पहले श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने अपने 'कृष्णाश्रय' नामक ग्रन्थ में वर्तमान भारतीय परिस्थिति का भविष्य कथन किया था––

"खलधर्म के पोषक कलियुग की व्यापना में जब लोग प्रपंची और पाखंडी बन जाएँगे, सब कल्याण-मार्ग अदृश्य हो जाएँगे तब सीधे-सादे सत्यानुवर्ती सज्जनों के लिए श्रीकृष्ण-शरण के सिवा अन्य मार्ग नहीं रहेगा। पापीयसी वृत्ति का प्रचार होने पर लोगों को सत्कार्य करने में भी व्यग्रता रहेगी। अधिदैव तत्त्व के चले जाने पर तीर्थ भी दुर्वृत्तिवाले बन जाएँगे। तथाकथित संत और सज्जन अहंकार में मग्न होकर लाभ, महत्ता तथा द्रव्य प्राप्त करने के लिए पापानुवर्ती बनेंगे, सामान्य जनता की आधिदैविक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के नष्टप्रायः होने पर मंत्र, यंत्र और तंत्र तथा यज्ञ-यजनादि क्रियाकांड जैसी जनोद्धारक क्रियाओं में भी प्रपंच का प्रवेश होगा। उस समय विवेक, सद्विद्या, धैर्य, योग, तप और भक्ति आदि का तिरोधान हो जाएगा; उनका आभास-मात्र रहेगा। तब भगवान् के आश्रय से अन्यत्र कहीं भी शान्ति नहीं मिलेगी।"

श्रीमद्भागवत ने भी द्वादश स्कंध के तीसरे अध्याय में तथा माहात्म्य में भविष्यकथन के रूप में वर्तमान काल की समाज-दशा का वर्णन किया है। उसका कुछ अंश आज के युग के अनुरूप है। जैसे––

(१) कलियुग में मोह, असत्य, आलस्य, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, माया, भय और लाचारी––ये तमोगुण के लक्षण दिखाई देंगे।

(२) दस्यूत्कृष्टा जनपदाः। (भा. १२.३.३२) अर्थात् नीच मनोवृत्ति वाले लोग देश में उच्च स्थान पर आसीन होंगे।

(३) राजानश्च प्रजाभक्षाः। (भा. १२.३.३२) अर्थात् राजा (राजतंत्र) प्रजाभक्षी बनेगा।

(४) न्यासिनोऽत्यर्थलोलुपाः। (भा. १२.३.३३) अर्थात् संन्यासी द्रव्यलोभी बनेंगे।

(५) विद्यार्थी-ब्रह्मचारी व्रत-रहित बनेंगे । ब्राह्मण मात्र उदरंभरी रह जाएँगे । स्त्रियाँ अनेक संतानोंवाली होंगी, वे निर्लज्ज, कटुभाषिणी एवं साहसी बनेंगी। नीच वृत्तिवालों तथा हलके विचारवालों के हाथ में व्यापार होगा और शूद्रवृत्तिवाले तपोवेशधारी बनकर आजीविका चलाएँगे ।

(६) जिनके पास धन होगा वही कुलीन और गुणवान् गिना जाएगा। धर्म और न्याय की व्यवस्था धन-बल पर ही आधारित होगी। अकाल, अनावृष्टि, राज्यकर, अतिताप, अतिशीत आदि से अन्न का अभाव होगा, परिणाम स्वरूप प्रजा शाक, वृक्षमूल, माँस आदि से निर्वाह करेगी तथा परस्पर लड़कर नष्ट होगी। (अ. २) मनुष्य का आयुष्य २०-३० वर्ष का हो जाएगा । (अ. २)

(७) एक आर्षद्रष्टा ने स्मृति में जो कहा था, वह वर्तमान युग के अत्यन्त अनुरूप मालूम पड़ता है--

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः ।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्वृन्दमवसीदति ॥

–जिस देश में अनेक नेता हों, सभी स्वयं को विद्वान मानकर महत्ता और सत्ता की इच्छा रखते हों, उस जन-समाज की अवनति होती है ।

आज स्वराज्य-प्राप्ति के ३८ वर्षों के बाद भी भारत की यह स्थिति प्रत्यक्ष दिखाई देती है ।

यदि कोई व्यक्ति कहता है कि भागवत के भविष्य कथन पर मुझे विश्वास नहीं है, तो इसका प्रत्युत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है । भागवत में यह भाग २५-३० वर्ष में तो नहीं रचा गया है, यह निश्चित है । कम से कम मुद्रणालयों के आविष्कार के पहले लगभग ३०० पर यह अंश जोड़ा गया हो तो भी उस समय आज के जैसी दुर्दशा तो नहीं थी । अतः पूर्वकाल के दृष्टाओं की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होती है ।

ऐसी विषम सामाजिक दशा में से समग्र समाज की सुधारणा कर, पृथ्वी के सब देशों में आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, व्यावहारिक एवं राजनैतिक मूल्यों की अभिवृद्धि के लिए और जनता का सही मार्गदर्शन करने के लिए आज अनेक राज-पुरुष, प्राज्ञ, पंडित तथा धर्माचार्य पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं और भिन्न-भिन्न मन्तव्य तथा क्रिया पद्धति बता रहे हैं । सब मन्तव्य अलग-अलग हैं । सबके साधन भिन्न-भिन्न हैं । किन्तु ध्येय एक ही है--भारत की सार्वत्रिक उन्नति । इसमें कोई मतभेद नहीं है । इस ग्रन्थ-लेखन का भी यही उद्देश्य है ।

इस ग्रन्थ का उद्देश्य वेद-दर्शित तथा भागवत-प्रदर्शित सांस्कृतिक मूल्यों का समन्वय कर भारतीय समाज का उत्थान करना है । इसके मूल में उपदेश देने की वृत्ति कदापि नहीं है । यदि इस ग्रन्थ के पठन-पाठन से अध:पतन की ओर अग्रसर होनेवाले कुछ लोग भी विशुद्ध बनेंगे तो इससे मानव-जाति का कल्याण होगा । महात्मा गाँधी और स्वामी विवेकानन्द, भगवान् बुद्ध, महावीर, प्रताप और शिवाजी अकेले ही थे । सनातन धर्म-साहित्य का यह उद्घोष है––

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।

भारतीय अस्मितावाले इस देश में जन्म लेनेवाले एक ही ब्राह्मण–ब्राह्मण-धर्मी के जीवन द्वारा पृथ्वी के सभी मनुष्य अपना चरित्र-निर्माण कर सकेंगे ।

इस ग्रन्थ में वेद और भागवत का सार-समन्वय है । इस ग्रन्थ में श्रीमद् भागवत की महत्ता का गान तो स्थान-स्थान पर हुआ है, अत: उसकी यहाँ पुनरुक्ति करना ठीक नहीं होगा । यहाँ वेद का गुणानुवाद एवं महत्त्व-प्रतिपादन ही करते हैं––

(१) **स्वाध्यायान्मा प्रमद ।**
उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ।।
(अथर्ववेद १९.६३.२)

हे ज्ञान के स्वामी ! आप हमारी उन्नति करें, सत्कर्मों के द्वारा विद्वानों में जागृति उत्पन्न करें तथा सत्कर्म करनेवाले यजमान को पूर्ण आयुष्य, जीवन-बल, उत्तम सन्तान, जीवन-निर्वाहक पशु और कीर्ति दें ।

(२) **अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति ।**
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।।

मनुष्य अपने पास ही रहे हुए परमात्मा का त्याग कभी नहीं कर सकता, साथ ही वह उस निकटतम प्रभु के दर्शन भी नहीं कर सकता । ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए ? प्रभु-दर्शन तथा आत्म-दर्शन का एकमात्र साधन यही है कि उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा के देव-काव्य का स्वाध्याय करें । वेद कभी नष्ट नहीं होते या कभी जीर्ण नहीं होते ।

प्राचीन काल से समस्त ऋषि-मुनियों, ज्ञानियों, सन्तों और महापुरुषों की यही मान्यता रही है कि वेद आर्य सभ्यता एवं संस्कृति का पवित्र स्रोत है । वेद ज्ञान-विज्ञान का धाम, आर्य-वाङ्मय का मूलाधार, अलौकिक देव-काव्य, दुरितनाशक ब्रह्मास्त्र, आधि-व्याधि-उपाधि की महौषधि; कला-कौशल, ऐश्वर्य, ज्ञान तथा विज्ञान

का समुद्र एवं मानव-जीवनयज्ञ का वैश्वानर है । यह मानव के सर्वतोभद्र की चाभी है । वेद दानव में से पूर्ण मानव बनाकर देवत्व-प्राप्ति करवाता है । यह आत्मदर्शन तथा परमात्मा का साक्षात्कार करानेवाली महाविद्या है ।

वेद की भाषा अनेकार्थवाची, सारगर्भित एवं सूत्रबद्ध है । यूरोप के वेदान्वेषक विद्वान् अनुवादकों में एकदेशीय अर्थ मालूम पड़ता है । हमारे पाश्चात्य रंग में रंगे हुए विद्वानों ने भी उन्हींके ऐनक से देखा है । किन्तु वेद का सांगोपांग अर्थ तो ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, निरुक्त, निघण्टु तथा महाभाष्य द्वारा ही प्राप्त होगा ।

एक बार 'धर्मयुग' में एक चर्चा आई थी । उसमें 'निरर्थका: वेदा:' इस वाक्य पर विचार-विमर्श किया गया था । एक पक्ष का कहना था कि वेद निरर्थक-अर्थहीन हैं, जबकि दूसरे पक्ष ने निरुक्तादि का आधार लेकर कहा—'निर्गत: अर्थ:' अर्थात् जिसके प्रत्येक शब्द से अर्थ निकलता है वह 'निरर्थ:' है. 'तस्मात् कं सुखम् इति निरर्थक:' अर्थात् जिसके प्रत्येक शब्द में से अर्थ-प्राप्ति होने पर सुख की प्राप्ति होती हो वही 'निरर्थक' कहा जाएगा ।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक ज्ञान को विकसित करने में अमूल्य योगदान दिया है ।पं. मेक्समूलर, डा. कीथ, डा. विन्टरनिट्झ और फ्रेंच दार्शनिक श्री वाल्टेर आदि ऐसे ही महानुभाव हैं । अंग्रेजों के शासन-काल में वेद जैसे भारतीय ज्ञान-महोदधि में अवगाहन करनेवाले इन पाश्चात्य पंडितों का हम अभिवादन करते हैं और उनके वेद-साहित्य संबंधी विचार उदाहरणार्थ यहाँ उद्धृत करते हैं ।

(1) "Veda is a body of lyric poetry distinguished by representation and beauty of thought and skill in language and matter." डॉ. मेक्डानल

(2) "The Veda is the most precious gift for which the west has ever been indebted to the east." श्री वॉल्टेर

अब अपने ख्यातनाम भारतीय महापुरुषों के वेद-संबंधी विचार देखिए––

(३) भूतपूर्व राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन्––

"In Vedas we find the first adventure of the human mind made by those who sought to discover the meaning of existance and man's place in life."

(४) दार्शनिक योगी श्री अरविन्द घोष––

"The Vedic hymns were chanted to Our God under many names, which are used to express His greatness and powers This is explicit from The Veda itself."

वैदिक साहित्य की महत्ता समझने के लिए इतने विचार ही पर्याप्त हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वेद, भागवत तथा उपनिषद्-गीता इन तीन महाग्रन्थों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है । मानव-जीवन से सम्बन्धित प्रायःसभी विषयों का इसमें समावेश हुआ है ।

वर्तमान युग यंत्र-प्रधान एवं अर्थप्रधान है । रामायण-महाभारत-काल से आज तक इस यंत्रवाद और अर्थवाद ने मानव-जीवन पर जितने उपकार किये हैं, उससे कहीं अधिक युद्ध एवं अशान्ति उपस्थित की है । वेदकाल में भी अर्थवाद तथा यंत्रवाद कैसा था, यह हमने अपनी राष्ट्रसंहिता भाग १, २, ३ में विस्तार से बताया है । उस जमाने में ये वाद समाज के पोषक एवं रक्षक थे, जबकि आज उससे विपरीत बन गये हैं ।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यंत्रवाद और अर्थवाद सर्वथा त्याज्य हैं । विज्ञान ने अनेक क्षेत्रों में लोकोत्तर सिद्धियाँ प्राप्त की हैं । इसके लिए विज्ञान को जितने धन्यवाद दिये जायँ, कम हैं । किन्तु जब विज्ञान और अर्थवाद लोभ तथा मोह में पड़कर मर्यादा का उल्लंघन करेंगे तब विज्ञान को धन्यवाद देनेवाला यही जगत् उसका तिरस्कार करेगा, इतना ही नहीं, यही विज्ञान हाइड्रोजन बम या मिसाईल बनकर स्वयं का नाश करेगा ।

आज पाश्चात्य जगत् में भारतीय तत्त्वज्ञान का महत्त्व बढ़ रहा है । यूरोप और अमेरिका जैसे देश—जो विज्ञान तथा संपत्ति में अत्यधिक प्रगति कर चुके हैं—सत्ता एवं संपत्ति के अनर्थ समझने लगे हैं । श्रीमद्भागवत ने दशम कंध के १०वें अध्याय में एक सनातन सत्य का उच्चारण किया है—'यत्र स्त्रीद्यूतमासवः' अर्थात् जहाँ सत्ता और संपत्ति का अतिरेक होता है वहाँ व्यभिचार, जुआ तथा मदिरा का विपुल प्रचार होता है । द्रव्य का अभाव हुए बिना यह महारोग नहीं मिटता । इन देशों में द्रव्य का अभाव होना संभव नहीं । अतः यह प्रजा दिन-दिन चारित्र्य के विनिपात में बह रही है । सुख के समस्त साधनों के होते हुए भी वहाँ शान्ति नहीं है ।

इन देशों में सर्वप्रथम स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द जैसे परम ओजस्वी संन्यासियों ने जाकर भारतीय संस्कृति और अस्मिता का प्रचार किया । उन्होंने जो बीज बोया था वह आज वृक्ष के रूप में पल्लवित-पुष्पित हो गया है । इसके बाद चैतन्य संप्रदाय, स्वामिनारायण संप्रदाय, शुद्धाद्वैत संप्रदाय और अद्वैत संप्रदाय ने यहाँ के अनेक स्त्री-पुरुषों को शान्ति मार्ग की ओर उन्मुख किया है । श्री महेश योगी, श्री रजनीशजी एवं चैतन्य संप्रदाय के एस्कोन फाउन्डेशन के आश्रमों में अनेक यूरोपियन तथा अमेरिकन नर-नारी अपना देश, काम-धंधा और परिवार छोड़कर, संन्यास ग्रहण कर बस गये हैं । आफ्रिका और न्यूझीलैण्ड में भी यह धर्म-

प्रचार चल रहा है । इस सर्वधर्मप्रचार का आदि स्त्रोत वेद, उपनिषद्, भगवद्‌गीता तथा भागवतादि साहित्य है । इस साहित्य का निर्माण हजारों वर्षों पूर्व हुआ है, फिर भी उसका महत्व किसी भी काल, देश, जाति या व्यक्ति के लिए किंचित् भी कम नहीं है । इस प्रकार इस ग्रन्थ में चर्चित सारे विषय सब मनुष्यों की उन्नति कर उन्हें देवत्व प्रदान करानेवाले हैं, अत: अतीव आदरणीय हैं ।

इस ग्रंथ के निर्माण में जिन ग्रंथों-लेखकों का आधार लिया गया है उनका उल्लेख यहाँ अप्रस्तुत न होगा । उनके नाम इस प्रकार हैं––

(१) पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के ऋग्वेद तथा अथर्ववेद पर लिखे हुए भाष्य ।

(२) श्री मोतीलाल रविशंकर घोडा का यजुर्वेद-भाष्य ।

(३) स्वामी श्री दयानन्द सरस्वती के यजुर्वेद-भाष्य पर आधारित, आर्य सेवा संघ, सूरत का यजुर्वेद-भाष्य ।

(४) पं. रघुनंदन शर्मा–‘वैदिक संपत्ति’ ।

(५) पं. नीलकंठ रचित मंत्र भागवतम् ।

(६) वेददर्शनाचार्य म. मं. स्वामी गंगेश्वरानंद का यजुर्वेद-संहिता (अध्याय १,२,३) पर लिखा हुआ समन्वय भाष्य ।

(७) श्री कल्याण प्रेस द्वारा प्रकाशित ईशादि एकादश उपनिषद्, शांकरभाष्य सहित ।

(८) श्रीराम शर्माकृत चारों वेदों के सायणभाष्यावलंबी हिन्दी भावार्थ भाष्य ।

(९) ‘कल्याण’ मासिक के वेदान्तांक आदि विशेषांक ।

उपर्युक्त सभी लेखक महोदयों का मैं आभारी हूँ ।

जिनकी प्रेरणा एवं प्रोत्साहन के बिना इस ग्रन्थ की रचना अशक्य-सी थी उन महानुभावों का विस्मरण कैसे हो सकता है ? ऐसे महानुभाव हैं––प.पू. वेददर्शनाचार्य स्वामी गंगेश्वरानंदजी, प.पू. स्वामी श्री अखंडानंदजी, प.पू. आचार्यप्रवर गो. प्रथमेशजी महाराज, प.पू. श्याममनोहरजी, श्रीमदाचार्यवंशावतंस, प.पू. श्री ब्रजरत्नलालजी महाराज, प.पू. गो. श्री मथुरेश्वरजी, प.पू.गो. इन्दिरा बेटीजी, इन अचार्य-प्रवरों तथा मेरे विद्वान मित्र श्री. के. का. शास्त्री ‘पद्मभूषण’ के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर उनकी शुभाशीष एवं शुभेच्छा की कामना करता हूँ । इसके उपरान्त मेरे परम मित्र प्रा. नरोत्तम शास्त्री का भी आभारी हूँ, जिन्होंने इस ग्रंथ के संशोधन-आदि का तथा प्रेस-कॉपी तैयार करने का कार्य कर इसके प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण

सहयोग दिया है । इसके हिन्दी प्रकाशन की सारी व्यवस्था का दायित्व डॉ. गजानन शर्मा, प्राचार्य ने लिया अत: उनका आभारी हूँ ।

अंत में, वेद-भागवत-समन्वय को ग्रंथ के रूप में प्रकट करते समय मुझे महाकवि कालिदासरचित 'रघुवंश' महाकाव्य की इस उक्ति का स्मरण होता है– 'प्रांशुलभ्ये फले लोभाद् उद्‍बाहुरिव वामनः ।' मेरी भी ऐसी ही गति है । तथापि मेरी ऐसी दृढ़ मान्यता है कि इस ग्रंथ की रचना में मैंने 'नामूलं लिख्यते किंचित् नानपेक्षितमुच्यते' इस सिद्धान्त का पालन करने की कोशिश की है । यद्यपि विषय अतीव गहन होने से कहीं कोई त्रुटि रह जाने की भी संभावना है । ऐसी क्षति के प्रति मेरा ध्यान आकृष्ट किया जाएगा तो मैं आभारी रहूँगा इस पावन ग्रन्थ के पठन-पाठन से सबका सदा सार्वत्रिक कल्याण हो, यही भावना है ।

विनीत,

रमणलाल शास्त्री

भागवत-भूषण

"अनुग्रह"
५५, पंकज सोसायटी, अहमदाबाद-७

।। ॐ नमः

निगम वेद

अनुक्रम

अनुक्रम	विषय	श्रीमद्भागवत	स्कंध	अध्याय	श्लोक
१.	ब्रह्मस्वरूप-श्रीकृष्ण	**प्रथम स्कंध**	१	१	१
२.	व्यापक आत्मदर्शन		१	९	४२
३.	उत्तरदिशा की महत्ता		१	१३	२७
४.	ब्रह्मज्ञान से शान्ति और मोक्ष		१	१५	३१
५.	परीक्षित चरित्र		१	१२	३०
६.	परीक्षित की धर्म रक्षा		१	१०	४२
७.	राजधर्म		१	१७	१६
८.	आततायी को मारो		१	७	५३
९.	ज्ञानयज्ञ	**द्वितीय स्कंध**	मा.	३	१
१०.	हृदय में भगवद्धारणा		२	२	८–१२
११.	योगधारणा		२	१	२३
			३	२८	८–११
१२.	आत्मा की ब्रह्मगति		२	२	३१
१३.	सनातन प्रश्न		२	५	२
१४.	विराट् का आविर्भाव		२	५	३५–३६
१५.	विराट् का स्वरूप		२	६	१५

श्रीकृष्णाय ।।

भागवतम्

णिका

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देशः
१	यजुर्वेद	३–३५
	मुंडकोपनिषद्	३–१–५,६
	छान्दोग्योपनिषद्	६–२–१
	ब्रह्मसूत्र	१–२
४	कठोपनिषद्	२–२–१२
५	अथर्ववेद	१५–६–१–२
६	अथर्ववेद	१०–८–४४
	कठोपनिषद	२–३–१५
७	अथर्ववेद	२०–१२७–९–१०
	मुण्डकोपनिषद्	१–२–१२–१३
८	ऋग्वेद	१०–१२५–६
	ऋग्वेद	१–५१–६
९	अथर्ववेद	८–९–१३
१०	ऋग्वेद	१०–८७–१६
	अथर्ववेद	८–३–१५
११	यजुर्वेद	३१–१६
	ऋग्वेद	३३–३२–१२
१२	केन उपनिषद्	१–५–६
१४	श्वेताश्वतरोपनिषद्	२–८–१०
	सामवेद पू	२–१–५–९
१५	कठोपनिषद्	२–३–१४–१५
१६	केनोपनिषद्	१–१
१७	यजुर्वेद	३१–१
	ऋग्वेद	१०–८१–३
१८	अथर्ववेद	१३–२–२६
	अथर्ववेद	३१–१

अनुक्रमः	विषयाः	श्रीमद्भागवत	स्कंध	अध्याय	श्लोक
१६.	विराट् का व्यापकत्त्व		२	६	१५
१७.	विराट् की महत्ता		२	६	१७
१८.	विराट् के एक चरणमें सर्व का समावेश		२	६	२८
१९.	विराट् के तीन चरण		२	६	१८
२०.	विराट् से विद्या-अविद्या		२	६	२०
२१.	विराट् से जड़चैतन्य सृष्टि		२	६	२१
२२.	विराट्-विश्वरूप यज्ञ और उसके साधन		२	६	२२–२६
२३.	चार वर्णों की उत्पत्ति		२	५	३७
२४.	विराट में लोक-कल्पना		२	५	३८
२५.	विराट के विश्व यज्ञ में उसी के साधनों से उपासना		२	६	२७
२६.	वैश्वानर मार्ग		२	२	२४
२७.	ब्रह्मस्वरूप		२	६	३९
२८.	चिरन्तन ब्रह्मयज्ञ		२	९	३२
२९.	माया का स्वरूप		२	९	३३
३०.	ईश्वर-उमयान्वयी		२	९	३४
३१.	अन्वय-व्यतिरेक से ईश्वरसिद्धि		२	९	३५
३२.	ईश्वर के अनुग्रह से किसी भी पदार्थ का अस्तित्त्व		२	१०	१२
३३.	एक में से अनेक		२	१०	१३
३४.	प्राणादि ईश्वराधीन है		२	१०	१६
३५.	विराट विभूति और कार्य		२	१०	१८–२१
३६.	अनिरुद्ध-शब्दयोनि	**तृतीय स्कंध**	३	१	३४

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देशः
१९	यजुर्वेद	३१–२
	अथर्ववेद	१०–९–२२
२०	यजुर्वेद	३१–३
	अथर्ववेद	२०–१२१–२
२१	यजुर्वेद	३१–३
	अथर्ववेद	१०–७–२५
२२	यजुर्वेद	३१–४
	अथर्ववेद	२०–१२१--२
२२	यजुर्वेद	३१–४
	यजुर्वेद	३१–३
२३	यजुर्वेद	३१–५
	अथर्ववेद	११–२–९
२४	यजुर्वेद	३१–६–८
	अथर्व वेद	११–२–११
२६	यजुर्वेद	३१–११
	ऋग्वेद	१०–७१–८
२७	यजुर्वेद	३१–१३
२८	यजुर्वेद	३१–९–१६
२९	अथर्ववेद	८–९–६
	अथर्ववेद	४–१४–३
३०	श्वेताश्वपत्तोपनिनषद्	६–१९
	ईशोपनिषद्	८–
३१	ईशोपनिषद्	५–
३१	ईशोपनिषद्	९–
	कठोपनिषद्	१–२–५–
३२	श्वेताश्वतरोपनिषद्	६–११
	मुंडकोपनिषद्	२–१–२
	मुँड़कोपनिपद्	२–२–५
३४	श्वेताश्वतरोपनिषद्	६–८ . . . . .
	कठोपनिषद्	१–२–२१
३५	बृहदारण्यकोपनिषद्	३–७–४,४.५.७.१२.१५
३६	त्तैतरीयोपनिषद्	२–६
३७	त्तैतरीयोपनिषद्	२–३
३८	ऐतरेयोपनिषद्	१–२–४–५
४०	शिक्षा	

अनुक्रम:	विषया:	श्रीमद्भागवत		
		स्कंध	अध्याय	श्लोक
३७.	आनन्द से इन्द्रिय जीवन	३	२	२१
३८.	परब्रह्म का सर्जन	३	५	२८–३५
३९.	सर्व में चैतन्य रूप से ब्रह्म का प्रवेश	३	६	१–३
४०.	चार वर्णों का निर्माण	३	६	३०–३४
४१.	तप से सर्जन की स्थिरता	३	९	३०–३१
४२.	देव वर्ष-मानव वर्ष	३	११	१२
४३.	अज्ञान वृत्ति-अविद्या	३	१२	२
४४.	आन्विक्षिकी का स्वरूप	३	१२	४४
४५.	वेद अपौरुषेय है	३	१२	३७–३८
		१२	६	३७–४७
४६.	ब्रह्मा का पुत्री के पीछे दौड़ना	३	१२	२८–३१
४७.	यज्ञ की उत्पत्ति	३	१३	२३
४८.	स्त्री पुरुष का अर्धांग	३	१४	१८
४९.	कालचक्र-रूपक	३	२१	१८
५०.	राजा का पूजनार्हण	३	२१	४८
५१.	इच्छानुसार चलने वाले विमानों की रचना	३	२३	१२
५२.	फलेच्छा रहित भक्ति	३	२५	३३
५३.	भक्ति से मृत्यु विजय	३	२५	४०
५४.	ईश्वर के भय से संसार का नियमन	३	२५	४२
५५.	कार्य प्रकृति का फल-जीव को भोगना पड़ता है	३	२६	८
५६.	कर्म फल से ईश्वर की अलिप्तता	३	२७	२४
५७.	पुरुष, प्रकृति गुण से पर है	३	२७	१

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देशः
४१	यजुर्वेद	२३–६३
४२	तैतरीयोपनिषद्	२–१
४३	वृहदारण्यकोपविषद्	३–७–१५–२३
४६	यजुर्वेद	३१–१०–११
४८	ऋग्वेद	९–९६–५
	ऋग्वेद	१०–१९०–१
४९	अथर्वयेद	६–१३३–४
	मनु स्मृति	१–६७
	ऋग्वेद	१–१६४–४७
	छान्दोग्य उपनिषद्	५–१०–३–५
५०	योग सूत्र	२–३–४–५
५१	यजुर्वेद	३१७
५२	ऋग्वेद	१–१६४–३३
	अथर्ववेद	९–१०–१२
५३	भगवद्गीता	३–१०
	अथर्ववेद	७–५–२
५४	श्रुति	
५४	श्वेताश्वतरोपनिषद्	१–४
५५	अथर्ववेद	७–६४–१
५६	असु-भारद्वाज-सूत्र	१–८
	यजुर्वेद	६–२१
	यजुर्वेद	१५–५०
५७	ऋग्वेद	१०–१६६–५
५७	यजुर्वेद	४०–२
	अथर्ववेद	३–८–६
५८	कठोपनिषद्	२–३–३
	अथर्ववेद	४–१६–७
५९	ऋग्वेद	१०–१३५–१,७
६१	श्वेताश्वतरोपनिषद्	४–५
	यजुर्वेद	१०–२४
६२	भगवद्गीता	१३–२२
	यजुर्वेद	१०–२४
	कठोपनिषद्	२–२–२

अनुक्रमः	विषयाः	**श्रीमद्भागवत**	स्कंध	अध्याय	श्लोक
५८.	शरीर की रचना		३	३१	५
५९.	पृथ्वी गोल है		३	२३	४३
६०.	विष्णु यज्ञस्वरूप है	**चतुर्थ स्कंध**	४	१	४
६१.	यज्ञ-दक्षिणा		४	१	४
६२.	स्तब्ध		४	२	१०
६३.	वाजपेय यज्ञोत्तर बृहस्पतिसब होता है		४	३	३
६४.	यज्ञोच्छिष्ट रुद्रभाग		४	६	५३
६५.	मित्र की आँख से देखें		४	७	३
६६.	दुष्टों को नष्ट करो		४	१४	३४
६७.	प्रजा राष्ट्र और धर्म (ऋत) की रक्षा		४	१४	१७–१९
६८.	कृषि कर्म की प्रशंसा		४	१८	६–९
६९.	स्वाश्रय-मानव शक्ति से कृषि की सफलता		४	१८	१२
७०.	शुद्ध शासन से देश का सार्वत्रिक विकास		४	१८	१४–२५
७१.	प्रत्येक वर्ण के लिये निवास रचना-राष्ट्र धर्म		४	१८	३०–३१
७२.	राष्ट्र का व्यापक उत्थान		४	१८	१२–२५
७३.	अश्वमेध		४	१९	१
७४.	शासक की योग्यता		४	१६	१०–१८
			४	२१	२१–२३
७५.	राज्य शासक का घोषणा पत्र		४	२१	२१–२६
७६.	सभा-समिति (राज्य सभा-लोकसभा) राज्याभिषेक के बाद शासक का उद्बोधन		४	२१	१३
७७.	सार्वत्रिक उन्नति		४	१८	१२–२८
७८.	एक ईश्वर-सर्व व्यापक		४	२०	७
			४	२१	४२

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देशः
६३	गर्भोपनिषद्	१–२
६४	ऋग्वेद	१–३३–८
	यजुर्वेद	३–६
६५	अथर्ववेद	११–५–२२
६६	ऋग्वेद	१–१२५–६;
	ऋग्वेद	१०–१०७–५,७
	यजुर्वेद	१९–३०
६७	श्रुति	
६८	यजुर्वेद	३–५७
६८	यजुर्वेद	३६–१८
६९	ऋग्वेद	१०–१४७–२
	अथर्ववेद	८–३–२
	अवर्ववेद	४–३०–२०
६९	अथर्ववेद	८–९–१३
७०	ऋग्वेद	४–५७–१–८
७२	अथर्ववेद	४–१३.६,७
	ऋग्वेद	१०–१०१–४
	अथर्ववेद	३–१७–१
७३	यजुर्वेद	१८–१०,१२,१३,२९
७७	अथर्ववेद	३–१२–५,२
	ऋग्वेद	७–३–७
	अथर्ववेद	१०–२–३१
७९	यजुर्वेद	१८–१०.१२.१३.२९
	शतपथ ब्राह्मण	१३–३–७
७९	श्रुति	
८०	अथर्ववेद	४–८–१
	अथर्ववेद	४–२२–१
८२	यजुर्वेद	२०–१०
८४	अथर्ववेद	७–१२–१–२
	अथर्ववेद	३–२९–१–२
८५	यजुर्वेद	२२–२२
८८	श्वेताश्वतरोपनिषद्	६.११

अनुक्रमः	विषयाः	श्रीमद्भागवत	स्कंध	अध्याय	श्लोक
७९.	पुरञ्जन-अविज्ञात नामा-आत्मा		४	२५	१०
	पर आत्मा का एकत्त्व		४	२८	४५
८०.	राजधर्म		४	२१	२१–२६
८१.	अविद्यानाशके बाद योग द्वारा निवृत्ति	**पंचम स्कंध**	५	५	१४
८२.	देह धर्म के ऊपर विजय		५	५	३३
८३.	भागवती गायत्री		५	७	१४
८४.	आत्मा की देह से भिन्नता		५	१०	१०
८५.	ब्रह्म दर्शन-वासुदेव		५	११	१३
८६.	पृथ्वी का गोलाकार मार्ग		५	२१	१३
८७.	भागवत-राष्ट्रगीत		५	१९	२१–२८
८८.	सूर्य का कार्य		५	२०	४६
८९.	ग्रहण		५	२४	१
९०.	जंगलों की रक्षा करें	**षष्ठ स्कंध**	६	४	७–८
९१.	ईश्वर सर्वज्ञ है		६	४	२५
९२.	ईश्वर इन्द्रियातीत है		६	४	२६
९३.	ईश्वर केवल बुद्धिग्राह्य है		६	४	२७
९४.	ईश्वर-ब्रह्म दर्शन		६	४	३०
९५.	क्षेत्रज्ञ-आत्मा		६	५	११
९६.	दधीचि-दध्यङ्ङाथर्वण		६	९	५२
९७.	नारायण कवच		६	८	२
९८.	ईश्वर-दह्लनिलय		६	९	४५
९९.	अविवेक से देह की भिन्नता का आभास		६	१५	८
१००.	आत्मस्वरूप		६	१६	९

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देशः
८९	मुंडकोपनिषद्	३–१–१–२
९०	ऋग्वेद	१–५८–८
	ऋग्वेद	८–७०–११
	ऋग्वेद	१–३३–४
	ऋग्वेद	७–५६–१९
	ऋग्वेद	७–९४–१२
९३	कठोपनिषद्	२–३–१४
९३	श्वेताश्वतरोपनिषद्	२–१३
९४	यजुर्वेद	३–३५
९४	उप.	
९५	कठोपनिषद्	२–२–९–१०
९६	ऋग्वेद	१–१६४–४८
	अथर्ववेद	१०–८–४
	अथर्ववेद	१३–३–८
९७	अथर्ववेद	१२–१–३–१२
१०३	विशेष के लिये समग्र सूक्त	
१०३	ऋग्वेद	५–४०–५–६
१०५	ऋग्वेद	१–२४–७
	यजुर्वेद	१२–७७
१०६	ऋग्वेद	१०–४३–६
१०७	कठोपनिषद्	१–३–१२
	ऋग्वेद	१०–८२–५
१०८	कठोपनिषद्	२–१–१२–१३
११०	कठोपनिषद्	२–१–३
११०	यजुर्वेद	१०–३२–७
१११	ऋग्वेद	१–११६–१२
	ऋग्वेद	१–११७–२२
	ऋग्वेद	१०–४८–८
११२	यजुर्वेद	११–४९
११३	ऋग्वेद	१०–४३–६
११४	ऋग्वेद	१–८१–५
११४	ऋग्वेद	१–१६४–१३

अनुक्रम:	विषया:	श्रीमद्भागवत	स्कंध	अध्याय	श्लोक
१०१.	तीन काल और अवस्था में एक स्वरूप-ईश्वर		६	१६	३६–५१
१०२.	वासना के प्रकार और मूल स्रोत	**सप्तम स्कंध**	७	११	११६
१०३.	आत्मस्वरूप		७	२	२२
१०४.	सर्व व्यापक ईश्वर		७	६	२०–२२
१०५.	रसात्मक प्रभु.		७	६	२३
१०६.	आत्मा-परमात्मा के लक्षण		७	७	१९
१०७.	प्रकृति के विकारों में निर्विकारी आत्मा		७	७	२२
१०८.	माया से मन और मन से संसार		७	९	२१–३०
१०९.	अहिंसा सत्य तप ब्रह्मचर्य स्वाध्याय से समान दृष्टि		७	११	८–१२
११०.	इज्या-पूजा यज्ञ		७	११	१३
१११.	अध्ययन		७	११	१४
११२.	व्यापार-वैश्य वृति		७	११	२०
११३.	भिन्न-भिन्न धन्धे रोजगारी		७	११	३०–३२
११४.	अध्यात्मयज्ञ		७	१३	२६–३१
११५.	ब्रह्मचर्याश्रम के बाद ही गृहस्थ और वानप्रस्थ		७	१२	१४
११६.	अधर्म शाखा-अविद्या		७	१५	१२
११७.	शरीर-रथ; ईश्वर लक्ष्य		७	१५	४१–४२
११८.	देवयान		७	१५	५४–५५

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देशः
११५	मुंडकोपनिषद्	२–१.२.३
११६	ऋग्वेद	१–१६४–३८
	श्वेताश्वतरोपनिषद्	५–८
११८	ऋग्वेद	१–१६४–१३
११९	यजुर्वेद	४०–१
	अथर्ववेद	१३–२–२६
१२०	तैत्तरीयोपनिषद्	२–७–१
१२०	कठोपनिषद्	
१२१	सांख्यकारिका	
	अथर्ववेद	८–९–२१
	अथर्ववेद	१३–३–१९
१२२	शतपथब्राह्मण	१०–५–३
	अथर्ववेद	३–१०–४
१२४	यजुर्वेद	१६–१६
	यजुर्वेद	१–५
	ऋग्वेद	१०–१९१–३,४
	अथर्ववेद	६–६४–३
	तैत्तरीयोपनिषद्	१–११–१
१२७	यजुर्वेद	३१–१६
१२८	यजुर्वेद	९–२१
	ऋग्वेद	५–४५–६
	ऋग्वेद	१०–७१–८
१३०	अथर्ववेद	३–१५–१–६
१३०	यजुर्वेद	१६–२७
	ऋग्वेद	१०–१०१–८
१३२	अथर्ववेद	१९–५८–१
	मुंडकोपनिषद्	१–२–१०
	कठोपनिषद्	१–३–१०,११,१३
१३४	जाबाल उपनिषद्	४
१३५	कठोपनिषद्	१–२–५
१३५	मुंडोपनिषद्	२–२–३
	कठोपनिषद्	१–२–३–४
१३७	छा. उ.	५–१०–१–२

अनुक्रमः	विषयाः	श्रीमद्भागवत	स्कंध	अध्याय	श्लोक
११९.	ईश्वर का कार्य	**अष्टम स्कंध**	८	१	९
१२०.	ईश्वर सर्व व्यापक (समर्पण करके भोगो)		८	१	१०
१२१.	ईश्वर, सर्जन का कारण होने पर भी पर		८	३	२
१२२-१२३.	ईश्वर अगम्य हैं		८	३	६
			८	३	१०
१२४.	आत्म बल और निष्काम कर्म से ही ईश्वर दर्शन		८	३	११
१२५.	सर्वेन्द्रियों का गुणद्रष्टा और प्राणदाता, ईश्वर		८	३	१४
१२६.	ईश्वर-ज्ञानप्राप्य		८	३	१८
१२७.	ईश्वर से ही संसार की उत्पत्ति		८	३	२३
१२८.	ईश्वर अविद्यासे अप्राप्य; केवल ज्ञान प्राप्य		८	३	१९
१२९.	ईश्वर-अतींद्रिय है		८	३	२१
१३०.	ईश्वर निषेधशेष-नेति नेति		८	३	२४
१३१.	विश्वात्मा-ब्रह्म		८	३	२६
१३२.	ईश्वर का मन-चन्द्र		८	५	३४
१३३.	स्वयम्भू-विभूतियाँ		८	५	३२–४१
१३४.	ईश्वर-काल पुरुष		८	५	४२
१३५.	अविकृत परिणामी ईश्वर		८	६	१०
१३६.	शिवस्वरूप-कार्य और विभूति		८	७	२५
१३७.	असत् में भी सत्स्वरूप से व्यापक		८	१२	८
१३८.	भगवान यज्ञ स्वरूप है		८	१६	३१
१३९.	तीन पाद में व्यापक		८	१९	१६
१४०.	विष्णु-वामन का बल		२	७	४०
१४१.	मत्स्यावतार		८	२४	३५–४५

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देशः
१३८	कठोपनिषद्	२–१–३
१३९	ईश उपनिषद्	१
१३९	यजुर्वेद	३१–१८–१९
	अथर्ववेद	५.६.११–१२
१४१	कठ-उपनिषद्	१–३
	अथर्ववेद	७–२६–७–८
	कठ-उपनिषद्	२–२–१५
१४२	कठ-उपनिषद्	१–३–६–७
	मुंडकोपनिषद्	१–२–११
१४३	कठ उपनिषद्	२–१–३
१४४	मुंडकोपनिषद्	३–१–८
१४५	मुंडकोपनिषद्	३–२–३, ५
	कठ उपनिषद्	२–२–९
	मुंडकोपनिषद्	२–१–८, ९
१४७	मुंडकोपनिषद्	३–२–५
१४७	कठ उपनिषद्	१–३
१४८	श्वेताश्वतरोपनिषद्	३–९
	श्वेताश्वतरोपनिषद्	६–८
	मुंडकोपनिषद्	३–१–८
१५०	ईश उपनिषद्	८
१५१	यजुर्वेद	३१–१२
१५१		
१५४	अथर्ववेद	१९–५३–५
१५५	अथर्ववेद	१०–७–१२
	उपवेद-पाणिनि	
१५६	यजुर्वेद	शाल्य ४
१५७	श्वेताश्वतरोपनिषद्	१–१५
१५७	यजुर्वेद	१७–९१
१५८	यजुर्वेद	५–१५
	यजुर्वेद	३४–४३
१५९	यजुर्वेद	५–१८
१६०	ऋग्वेद	१–२५–७

अनुक्रम:	विषया:	श्रीमद्भागवत स्कंध	अध्याय	श्लोक
	नवम: स्कन्ध			
१४२.	सुद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, यौवनाश्व, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, शर्याति, ययाति, मरुत्त, भरत	९		
१४३.	मेनका प्रम्लोचन्ती घृताची उर्वशी, पुरुरवा, पूर्वचित्ति मरुत-मरुत नहुष अङ्गिरा, ययाति यदु, द्रुह्यु, अनु, तुर्वसु, पुरु मनु	९		
१४४.	कण्व, कक्षिवान्, अगस्त्य, सौभरि, विश्वामित्र, जमदग्नि, कश्यप, वामदेव, वसिष्ठ, भरद्वाज, अत्रि	९		
१४५.	त्रिशंकु	९	७	५
१४६.	उर्वशी-पुरुरवा के ऐल-सूक्त का मूल	९	१४	४३–४९
१४७.	ययाति, देवयानी, शर्मिष्ठा	९	१८	
	दशम: स्कन्ध: (पूर्वार्ध)			
१४८.	निरोध-लक्षण	२	१०	६
१४९.	वसुदेव-देवकी	१०	१	२९
१५०.	कंस (अहंकार)	१०	१	३०
१५१.	पृथ्वी पर अवतार के लिए देवों की प्रार्थना	१०	१	१७–२०
१५२.	श्रीकृष्ण-जन्म	१०	३	८
१५३.	अद्भुत कृष्णस्वरूप	१०	३	९
१५४.	श्रीकृष्ण का गोकुलगमन	१०	३	४७–५१
१५५.	सर्वशक्तिमान् की प्रार्थना	१०	१	२०
१५६.	सत्स्वरूप श्रीकृष्ण	१०	२	२६
१५७.	कृष्णावतार	१०	३	८
१५८.	नन्द	१०	५	१

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देशः
१६२	मैत्रायणी उपनिषद्	१–४
१६३	यजुर्वेद	१५–१६
१६३	यजुर्वेद	१५–१७
१६३	यजुर्वेद	१५–१८
१६३	यजुर्वेद	१५–१९
१६३	यजुर्वेद	५–२
१६४	ऐतरेयब्राह्मण	
१६४	ऋग्वेद	८–८–३
१६४	ऋग्वेद	१–३१–१७
१६४	ऋग्वेद	१–१०८–८
१६४	ऋग्वेद	४–२६–१
१६५	अथर्ववेद	१८–३–१५–१६
१६५	तैत्तरीयोपनिषद्	१–१०
१६६	ऋग्वेद	१०–९५–१–१८
१७२		
१७५	योगसूत्र	१–१२
१७५	कृष्णोपनिषद्	६
१७६	कृष्णोपनिषद्	१५
१७६	ऋग्वेद	४-१८-११
१७८	अथर्ववेद	९-१०-१०
	मंत्र भागवत	गो. का १०
१७८	कृष्णोपनिषद्	२१, २, २४
१७९	ऋग्वेद	१७–६०–८
१८१	''	८–७५–६
१८१	,,	१–१६४–४६
१८२	मंत्र भागवत	गो. का. ७
१८३	कृष्णोपनिषद्	३

अनुक्रमः	विषयाः	श्रीमद्भागवत स्कंध	अध्याय	श्लोक
१५९.	रोहिणी	१०	५	१७
१६०.	यशोदा	१०	९	१
१६१.	त्रिविधा माया	१०	१	२५
१६२.	गोपियाँ—वेद ऋचाएँ	१०	५	११
१६३.	यष्ठि-वंशी-शृंग	१०	१३	११
१६४.	गोकुल-वृक्ष-बकासुर	१०	२२	३०
		१०	११	४८
१६५.	बलराम-श्रीकृष्ण	१०	१८	२६
		१०	१४	२३
१६६.	सोलह हजार एक सौ आठ स्त्रियाँ	१०	६९	४४
१६७.	चाणूर, मुष्टिक, कुवलयापीड	१०	४३	३१
		१०	४४	१
		१०	४३	२
१६८.	रोहिणी, सत्यभामा, अघासुर, कंस	१०	५	१७
		१०	५६	४३
		१०	१२	१३
		१०	१	३५
१६९.	सुदामा, अक्रूर, उद्धव	१०	८०	६
		१०	३८	१
		१०	४६	१
१७०.	श्रीकृष्ण के अवतार का कारण			
१७१.	चक्र-चमर-खड्ग	१०	८९	५०
१७२.	ऊखल-डोर	१०	११	३
१७३.	कौमोदकी-धनुष्य-कमल	३	२८	२८
		१२	११	१५
		१२	११	१३
१७४.	पूतना-वध	१०	६	२
१७५.	पूतना-अविद्या	१०	६	१४
१७६.	तृणावर्त और शकट-नाश	१०	७	२८
१७७.	शकट-भंजन	१०	७	७

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देशः
१८३	कृष्णोपनिषद्	१५
१८४	,,	३
१८४	,,	४, ५, १०
१८५	,,	८
१८५	,,	८, ११
१८६	''	९
१८७	,,	१२
१८८	,,	१३
१८८	,,	१४
१८९	,,	१५
१९१	,,	१६
१९२	भगवद् गीता	४–८
	ऋग्वेद	१०–१२५–६
	,,	१–५१–९
	अथर्ववेद	९–१०–२३
१९३	कृष्णोपनिषद्	१९, २०
१९४	कृष्णोपनिषद्	२१
१९४	,,	२३–२४
१९५	अथर्ववेद	६–२७–३
१९६	योगसूत्र	२–५
१९६	ऋग्वेद	१०–९७–१३
१९७	,,	१–१२३–१

अनुक्रमः	विषयाः	श्रीमद्भागवत स्कंध	अध्याय	श्लोक
१७८.	मुख में विश्वदर्शन	१०	७	३६,३७
१७९.	यशोदा को फरियाद	१०	८	२८
१८०.	कामना-त्याग से ही शान्ति	१०	१२	११
		११	८	३८
१८१.	श्रीकृष्ण सर्वरूप	१०	१३	१९
१८२.	धेनुकासुर-नाश	१०	१५	३०–३२
१८३.	कालियादमन	१०	१६	४
१८४.	वेणुनाद	१०	२१	५
१८५.	गिरिराज-धारण	१०	२५	१९
१८६.	वरुण-पूजन	१०	२८	५–८
१८७.	गोपीगीतम्	१०	३१	१, ४–८, ९, १३, १९
१८८.	रास में कृष्ण अनेक रूपों में	१०	३३	३
१८९.	रास-मंडल	१०	३३	६
१९०.	अक्रूर-आगमन और संदेश	१०	३८	१–४३
१९१.	गोपी-विलाप	१०	३९	१९–३१
१९२.	अक्रूर द्वारा यमुना में श्रीकृष्ण-दर्शन	१०	३९	४१–४४ ५६, ५७
१९३.	श्रीकृष्ण-मथुरा में	१०	४१	३७, ५१
		१०	४३	१४
		१०	४४	२३
१९४.	कंस-वध	१०	४४	३७, ३८
१९५.	प्रजा द्वारा हर्षनाद् व स्तुति	१०	४४	४२

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देश:
१९८.	अथर्ववेद	४-११-८
	,,	१०-७-७२
	,,	१०-७-१२
१९९	मंत्र भागवत	गो. २७
१९९	कठ उपनिषद्	२-१४-१४
२००	अथर्ववेद	१०-७-१२
२०१	,,	२०-७४-५
	ऋग्वेद	१-२९-५
२०२	,,	१-३२-७
२०२	मुंडकोपनिषद्	३-२-३
२०३	ऋग्वेद	५-४८-३, ४
२०४	,,	१-१५६-४
२०५	,,	१-१५४-५
	,,	१०-१२५-४
	,,	१०-४३-६
	,,	८-८१-६
	,,	६-१-४
	,,	९-१-१
	,,	४-२-१२
	,,	३-५५-१५
	अथर्ववेद	४-२०-५
२१३	ऋग्वेद	३-५५-१४
२१४	ईश उपनिषद्	मंगल
२१४	ऋग्वेद	३-५४-१९, २०
२१५	,,	३-५५-३
२१६	,,	५-५२-१७
२१७	मंत्र भागवत	१
२१९	ऋग्वेद	३-५४-१५
२२०	मंत्र भागवत	म. कां. ३

अनुक्रमः	विषयाः	**श्रीमद्भागवत**	स्कंध	अध्याय	श्लोक
१९६.	जीवन की धन्यता		१०	४७	२४
१९७.	आत्मस्वरूप	**दशम स्कंध (उत्त०)**	१०	४७	३१
१९८.	ईश्वर के जन्म और कर्म दिव्य तथा अनेक हैं।		१०	५१	३७
१९९.	ईश्वर के गुण-कर्म अनन्त हैं।		१०	५१	३८
२००.	विवाह-योग्य युवा		१०	५२	३८
	विवाह-योग्य स्त्री		१०	५२	२४
	पत्नी के गुण				
२०१.	ईश्वरेच्छा से सुख-दुःख की प्राप्ति		१०	५४	१२
२०२.	आनन्दमय फलात्मा श्रीकृष्ण		१०	६०	३८
२०३.	ब्रह्मदर्शन		१०	६३	२५
२०४.	माया और उसको पार करने का उपाय		१०	६३	२६
२०५.	अवतार-कारण		१०	६३	२७
२०६.	अनन्याश्रय से ही रक्षा		१०	६३	२८
२०७.	बलराम-हलायुध		१०	६५	२३
			१०	६८	४१
२०८.	राज्य के प्रकार		१०	८३	४१
२०९.	ईश्वर-लक्षण		१०	८४	३३
२१०.	उपनिषद् की व्याख्या		१०	८७	३
२११.	श्रुति-गीता		१०	८७	१४
२१२.	ईश्वर महान् एवं निर्विकार		१०	८७	१५
२१३.	अनुग्रह से ही आनन्द		१०	८७	१६
२१४.	सत्-असत् से पर शेषस्वरूप परब्रह्म		१०	८७	१७
२१५.	ईश्वर-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग		१०	८७	१८
२१६.	विनाशी में एकरस अविनाशी		१०	८७	१९
२१७.	आत्मा ईश्वर का अबंधन चित्त्स्वरूप		१०	८७	२०
२१८.	भक्त परमहंस के संग से मोक्ष		१०	८७	२१
२१९.	माया के कारण ही आत्मा परमात्मा से दूर		१०	८७	२२

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देश:
२२१	ऋग्वेद	५–४२–८
	,,	६–२७–२
२२२	श्वेताश्वतरोपनिषद्	६–१३
२२२	भगवद् गीता	४–९
	अथर्ववेद	५–१–२
२२३	यजुर्वेद	५–१८
२२४	ऋग्वेद	३–८–४
	अथर्ववेद	६–१२२–५
२२५	,,	३–२५–४, ६
२२५	भगवद् गीता	१८–६१
	ऋग्वेद	१०–४३–६
२२७	ऋग्वेद	९–६४–१७
२२७	यजुर्वेद	२३–६३
	अथर्ववेद	१०–७–१२
२२८	ऋग्वेद	१०–६३–१०
२२९	,,	१–५१–९
	अथर्ववेद	९–१०–२३
२३०	ऋग्वेद	१०–१६६–५
२३१	,,	४.५७.१–४
२३२		
२३३	योगसूत्र	१–२४
२३३		
२३४		
२३५		
२३६		
२३७		
२३८		
२३९	श्वेताश्वतरोपनिषद्	६–११
२४०	तैत्तरीय उपनिषद्	२–५
२४०		
२४०		

अनुक्रम:	विषया:	श्रीमद्भागवत		
		स्कंध	अध्याय	श्लोक
२२०.	उपासना द्वारा ईश्वर-धारणा	१०	८७	२३
२२१.	ईश्वर अगम्य है	१०	८७	२४
२२२.	प्रभु का यथार्थ ज्ञान होने पर भेदाभाव	१०	८७	२५
२२३.	ईश्वर का व्यक्ति या समष्टिरूप से व्यापकत्व	१०	८७	२६
२२४.	भिन्न द्रष्टा मृत्युभागी है	१०	८७	२७
२२५.	निरिन्द्रिय होने पर भी सर्वशक्तिमान् सम्राट ईश्वर	१०	८७	२८
२२६.	माया-विहारी होने पर भी आकाशवत् उससे पर	१०	८७	२९
२२७.	ब्रह्मतत्त्व अज्ञेय है	१०	८७	३०
२२८.	प्रकृति और पुरुष	१०	८७	३१
२२९.	ईश्वर-शरण से ही निर्भयता	१०	८७	३२
२३०.	सन्त-संसारतरण की दृढ़ नौका	१०	८७	३३
२३१.	सांसारिक संबन्ध अनित्य एवं दुःखमय	१०	८७	३४
२३२.	जगत् सत्स्वरूप है	१०	८७	३६
२३३.	जीव-ब्रह्म की एकता	१०	८७	३८
२३४.	वासना से ही दुःख	१०	८७	४०
२३५.	ईश्वर विश्रामस्थान तथापि 'नेति नेति'–अवर्ण्य	१०	८७	४१
	एकादश: स्कन्ध:			
२३६.	श्रीकृष्ण की कुलसंहार की इच्छा	११	१	४
२३७.	ईश्वर से विमुख को भय	११	२	३७
२३८.	व्यापक सर्वेश्वर	११	२	४१
२४९.	ब्रह्म-सदसत् से पर	११	३	३७
२४०.	संत के अपमान के कारण	११	५	९
२४१.	विष्णु शक्ति	११	४	२
२४२.	निषेधसिद्ध ईश्वर	११	३	३६
२४३.	ज्ञानी को अन्तराय बाधक नहीं होते।	११	७	१०
२४४.	नरसखा नारायण	११	७	१८
२४५.	अनासक्त लक्षण	११	११	११–१२
२४६.	जीव-ईश्वर भेद	११	११	६–७
२४७.	आत्मतत्त्व	११	१२	१७–२१

पृ-सं	वेदोपनिषन्नाम	स्थलनिर्देश:
२४२	उपनिषद्	
२४२	उपनिषद्	
२४३	उपनिषद्	
२४४	उपनिषद्	
२४५		
२४६	उपनिषद्	
२४७	उपनिषद्	
२४७	उपनिषद्	
२४८	श्वेताश्वत्तर उपनिषद्	
२४९	उपनिषद्	
२५०	उपनिषद्	
२५१	उपनिषद्	
२५२	उपनिषद्	
२५३	उपनिषद्	
२५४	अथर्ववेद	२–६–५
२५४	उपनिषद्	
२५५	अथर्ववेद	१९–५४–१
२५६	,,	१४–१–३८
२५७	ईशोपनिषद्	१
२५७	बृहदारण्यकोपनिषद्	३–७–१५
२५८	ईश उपनिषद्	९
	कठ उपनिषद्	१–२.५, ६
२५९	यजुर्वेद	५–१८
	,,	६–४
२६०	केनउपनिषद्	१–४, ५
२६१	ऋग्वेद	१–२२.२१
२६२	,,	१–७५–४
	अथर्ववेद	८–९–२२
	ऋग्वेद	५.५९.६
२६३	तु. ऋग्वेद	७–५५–६
२६४	मुंडक उपनिषद्	३.१.१–३
२६६	कठ उपनिषद्	३–१–८–१०

अनुक्रमः	विषयाः	श्रीमद्भागवत स्कंध	अध्याय	श्लोक
२४८.	आत्मा के गुण धर्म	११	१२	१९
२४९.	परमसुख-निरपेक्षता	११	१४	१७
२५०.	योगासन से प्राणशोधन	११	१४	३२, ३३
२५१.	हृदय-कमल में भगवान् का ध्यान	११	१४	३६
२५२.	जहाँ मन वहाँ आत्मा	११	१५	२०, २१
२५३.	धारणा का स्वरूप और महत्ता	११	१५	१
२५४.	अणिमा	११	१५	१०
२५५.	क्षुधा-तृषा-निवृत्ति	११	१५	१८
२५६.	दूर श्रवण-सिद्धि	११	१५	१९
२५७.	दूरदर्शन	११	१५	२०
२५८.	दूरगमन	११	१५	२१
२५९.	ईप्सित रूपप्राप्ति	११	१५	२२
२६०.	परकाया-प्रवेश	११	१५	२३
२६१.	सिद्धि के साधन और कारण	११	१५	१
२६२.	यम और नियम	११	१९	३३, ३४
२६३.	यज्ञ ही विष्णु हैं	११	१७	१२
२६४.	आचार धर्म	११	१७	२२- ३६
२६५.	समावर्तन	११	१७	३७
२६६.	यज्ञ के स्वरूप	११	१८	८
२६७.	असंयमी की गति	११	१८	४०, ४१
२६८.	ज्ञान-विज्ञान का स्वरूप	११	१९	१४, १५
२६९.	दान, तप और समदर्शन	११	१९	३७
२७०.	योग की व्याख्या	११	२०	२१
		११	२३	४६
२७१.	शब्दब्रह्म का स्वरूप	११	२१	३६
२७२.	पुरुरवा-उर्वशी कथा	११	२६	५–३५
		९	१४	३४
२७३.	तीन महाविद्याएँ	११	२७	३१
२७४.	जगत् की उत्पत्ति और विकास	११	२४	१- १५

पृ.स.	वेद. उ.	स्थल निर्देश
२६८	बृहदारण्यकोपनिषद्	३.७.१५–१८
२७०	मुंडक उपनिषद्	१–२–११
	,,	३.२.२, ८
२७१	श्वेताश्वतरोपनिषद्	२.८, १०
२७२	कै उपनिषद्	५.६–११
२७३	श्वेताश्वतरोपनिषद्	२.१२, १३
	छान्दोग्योपनिषद्	७–६–२
२७५	योगसूत्र	वि-पा. १
२७५	,,	वि.पा. २१
२७६	,,	,, ३०
२७६	,,	,, ४१
२७७	योगसूत्र	वि–पा. २६
,,	,,	४२
२७८	,,	४६
,,	,,	३८
२७९	,,	४–१
,,	,,	२–३०, ३२
२८०	शतपथब्राह्मण	
२८०	तैत्तरीय उपनिषद्	१.११–१, २
२८३	ऋग्वेद	३.८.४
२८४	मुंडक उपनिषद्	१.२.३
२८५	साम उ.	५.२–५–१
२८५	तैत्तरीय उपनिषद्	२–५
२८६	ऋग्वेद	१.३१.१५
	,,	४.१.७
२८७	योगसूत्र	१, २
२८८	गणेशाथर्वशीर्ष	
२८९	ऋग्वेद	१०–९५

卐

२९०

अनुक्रमः	विषयाः श्रीमद्भागवत	स्कंध	अध्याय	श्लोक
२७५.	विश्व में प्रकृति और पुरुष एकात्मक भाव में	११	२८	१
२७६.	श्रीकृष्ण का स्वधाम-गमन	११	३१	६
२७७.	सर्व संसार-धर्म के त्यागपूर्वक शरणागति से मोक्ष	११	२९	३४
	द्वादश-स्कन्ध			
२७८.	युगलक्षण	१२	३	२७-३०
२७९.	हरि-कीर्तन से मुक्ति	१२	३	५२
२८०.	भक्ति तथा आत्म-निवेदन से ही मोक्ष	१२	३	४८
२८१.	भगवत्पद	१२	४	२०, २१
२८२.	आत्म तत्त्व-अजर-अमर	१२	५	२, ३
२८३.	आत्मा-आकाशवत्	१२	५	५
२८४.	आत्मा ब्रह्मस्वरूप ही है	१२	५	११
२८५.	आत्मा घटाकाशवत्	१२	५	५
२८६.	वैष्णव-पद	१२	६	३२
२८७.	सत्यं परं धीमहि	१२	१३	१९
२८८.	नाम संकीर्तन का फल	१२	१३	२३

पृ. सं.	वेदोपनिषन्नाम	स्थल निर्देशः
२९३	ईश उपनिषद्	६
	बृहदारण्यक	३.७.१५
	अथर्ववेद	१०.८.३३
	ऋग्वेद	१०–११४–५
२९४	मंत्रभागवत	म.का. १०
२९५	अथर्ववेद	५.३०–८
	ऋग्वेद	२–२३–५
२९६	अथर्ववेद	८–२–१
		६–३३–१
		८–१–१०
	ऋग्वेद	३–५३–२३
२९८	ऋग्वेद	६–४५–१
	मुंडक उपनिषद्	३–१–३
२९९	,,	३–२–३
३००	अथर्ववेद	७–१५–२
३०१	श्वेताश्वतरोपनिषद्	६–१३
३०१	अथर्ववेद	१०–२–२८
३०२		
;;	स्वा-सु.	
३०३	यजुर्वेद	६–५
३०३		
३०४	अथर्ववेद	६–९४–२

वेदभागवतम्—

प्रेरणा-स्रोत

नित्यलीलास्थ पूज्यपाद गोस्वामी

श्री १०८ श्री द्वारकेशलालजी महाराज, कोटा (राजस्थान)

वेदभागवतम्

।। ॐ नमः श्रीकृष्णाय ।।

१. ब्रह्म—सत्य स्वरूप श्रीकृष्ण
एवं
जगत का सर्जक, रक्षक, संहारक

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।

श्रीमद्भागवत १/१/१

अर्थ—हे परमात्मा, आप जगत के सर्जक, रक्षक एवं संहारक हैं । घट में रही हुई मिट्टी की तरह आप आकाशादि पदार्थों के कारण रूप हैं । आप सर्वज्ञ, स्वत:सिद्ध ज्ञान रूप हैं । बड़े-बड़े विद्वानों को मोह उत्पन्न कराने वाले वेद का आपने ब्रह्मा द्वारा प्रकाशन करवाया है । तेज, पानी और मिट्टी में मृगजल की भ्रान्ति होती है उसी प्रकार त्रिविध सृष्टि असत्य होने होने पर भी आपके अंदर सत्य मालूम पड़ती है । अपनी विशिष्ट अस्मिता से आप कपट तथा अविद्या को दूर करते हैं । तीनों अवस्थाओं तथा काल से आप पर हैं और सत्य स्वरूप परमात्मा हैं । हम आपका ध्यान करते हैं ।

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

यजुर्वेद ३/१/५

अर्थ—हम भगवान सूर्य के उस वरणीय तेज का ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धि को शुभ कर्मों में प्रेरं ।

विवरण—महाप्रभु श्रीमद् वल्लभाचार्य ने अपने 'गायत्री-भाष्य' में कहा है कि संपूर्ण भागवत गायत्री मंत्र का भाष्य है । गायत्री बीज स्वरूप,

वेद वृक्षस्वरूप और श्रीमद्भागवत परमानंद परिप्लुत फल है। श्रीमद् भागवत को आनंदकन्द भगवान श्रीकृष्ण का वाङ्मय-स्वरूप कहा गया है। (श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि।) उपर्युक्त भागवत-श्लोक का वेद के गायत्री मंत्र के साथ कितना घनिष्ट संबंध है, यह निम्नलिखित तुलना से स्पष्ट होता है––

गायत्रीमंत्र	**भागवत**	**अर्थ**
तत्	सत्यं परम्	त्रिकालाबाधित पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण
सवितुः भर्गः	जन्माद्यस्य यतः	समग्र विश्व के उत्पन्न-कर्ता, पालक तथा संहारक
देवस्य	अर्थेष्वभिज्ञः	दशलीलाविशिष्ट - क्रीडा, जयेच्छा, व्यवहार, तेजस्विता, स्तुति, प्रमोद, स्वमान, स्वप्न, कान्ति और गति में निपुण
वरेण्यम्	तेजो वारिमृदां.... ....त्रिसर्गो मृषा	माया-संबन्ध-रहित, वरणीय
धीमहि	धीमहि	हम ध्यान करते हैं।
धियो यो नः	तेने ब्रह्म हृदा....	हमारी बुद्धि और
प्रचोदयात्।	....यत्सूरयः	इन्द्रियादि को प्रेरे।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

मुंडक ३/१/५

अर्थ––यह आतमा सर्वदा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जिसे दोषहीन योगिजन देखते हैं वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा शरीर के भीतर रहता है।

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

मुंडक ३/१/६

अर्थ--सत्य ही जय को प्राप्त होता है, मिथ्या नहीं। सत्य से देवयान मार्ग का विस्तार होता है, जिसके द्वारा आप्तकाम ऋषिलोग उस पद को प्राप्त होते हैं जहाँ वह सत्य का परम निधान (भंडार) वर्तमान है।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं
अद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं
तस्मादसतः सज्जायत।

छान्दोग्य ६/२/१

अर्थ--हे सौम्य, सबसे पहले एक और अद्वितीय सत् तत्त्व ही विद्यमान था।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। ब्रह्मसूत्र। १,२।

अर्थ--अब हम (सत्यपद वाचक) परब्रह्म की जिज्ञासा करते हैं। समग्र विश्व के जन्म, पालन और संहार का यही महाकारण है।

विवरण--ब्रह्मसूत्र प्रस्थानत्रयी का एक भाग है। 'प्रस्थान' का अर्थ है प्रगति, सुख-दुःख तथा जन्म-मरण आदि के चक्र से मुक्त होने के लिए शास्त्रीय सफल मार्ग का अनुसरण। ये तीन प्रस्थान निम्नलिखित हैं--

(१) श्रुति-प्रस्थानः वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक
(२) सूत्र-प्रस्थान : ब्रह्मसूत्र
(३) स्मृति-प्रस्थानः श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद् वल्लभाचार्य एवं चैतन्य महाप्रभु ने श्रीमद् भागवत को चतुर्थ प्रस्थान के रूप में मान्यता दी है* क्योंकि श्रीमद्भागवत में भी प्रस्थानत्रयी की तरह ही ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य का गौरव-गान हुआ है। श्रीमद्भागवत अध्यात्मप्रधान ग्रंथ है। इसकी प्रतिपादन-शैली पक्षपात-रहित है। इसमें साक्षात् परमेश्वर के वचनों का संग्रह है। श्रीमद्भागवत में मौलिक तत्त्व तथा दर्शन का प्रतिपादन है और श्रुति, गीता एवं सूत्र-प्रस्थानत्रयी से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। इन सब कारणों से यह ग्रन्थ चतुर्थ प्रस्थान के रूप में सर्वस्वीकृत हुआ है।

ब्रह्मसूत्र के समन्वयाधिकरण, ईक्षत अधिकरण, आनंदाधिकरण तथा आकाशाधिकरण––ये चारों अधिकरण ब्रह्म को सत्, असत्, आनंद तथा आकाश रूप मानते हैं। श्रीमद्भागवत ने कहा है––अन्वयादितरतः। एतेषाम् इतरेषामपि कारणानां ब्रह्मपदे समन्वयात्। वेदान्त में उपर्युक्त तथा अन्य जितने भी कारण-वाक्य हैं, वे सब ब्रह्म पद में ही अनुस्यूत हैं अतः विवाद का कोई प्रश्न नहीं।

वेदान्तवेद्य ब्रह्म, योगसाङ्ख्य, प्रतिपादित परमात्मा और सात्वतों के आराध्य श्रीकृष्ण एक ही हैं। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।

२. व्यापक आत्मदर्शन

तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥

श्रीमद्भागवत १/९/४२

अर्थ––परमात्मा ने प्राणिमात्र का सृजन किया है और प्रत्येक प्राणी के हृदय में उनका निवास है। जिस प्रकार सूर्य एक है किन्तु प्राणियों की

(*) वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥ (तत्त्वदीपनिबन्धः)

भिन्न-भिन्न दृष्टि में अनेक की तरह मालूम पड़ता है, उसी प्रकार भगवान् एक हैं पर आत्मस्वरूप से अनेक स्वरूप में मालूम पड़ते हैं। उस अजन्मा भगवान् को मैंने भेद तथा मोह को त्यागकर अच्छी तरह प्राप्त कर लिया है ।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।

कठ २/२/१२

अर्थ---जो एक, सब को अपने अधीन रखनेवाला और संपूर्ण भूतों का अन्तरात्मा अपने एक रूप को ही अनेक प्रकार का कर लेता है, अपनी बुद्धि में स्थित उस आत्मदेव को जो धीर (विवेकी) पुरुष देखते हैं उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं ।

तात्पर्य----परमात्मा एक होने पर भी सूर्य की किरण की तरह प्रत्येक देह में आत्मस्वरूप से व्यापक है ।

३. उत्तर दिशा की महत्ता

अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान्।
इतोऽर्वाक् प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः ।।

श्रीमद्भागवत १/१३/२७

अर्थ----अब आप (धृतराष्ट्र) भी अपने संबंधियों को मालूम न हो इस तरह उत्तर दिशा में चले जाइए, क्योंकि कुछ समय के बाद लोगों के धैर्य, दया आदि गुणों को नाश करनेवाला कलियुग आ रहा है ।

एषा देवमानुषाणां शान्ता दिगिति श्रुतेः।

अर्थ----यह उत्तर दिशा देवों तथा मनुष्यों को शान्ति देने वाली है ।

(विशेष–अथर्ववेद १५/६/१,२)

४. ब्रह्मज्ञान से शान्ति एवं मोक्ष

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या संछिन्नद्वैतसंशयः ।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसंभवः ।।

श्रीमद्भागवत १/१५/३१

अर्थ---(गीता में उल्लिखित) उस ब्रह्मज्ञान के स्मरण मात्र से अर्जुन का शोक दूर हो गया, द्वैतभाव नष्ट हो गया, अविद्या का नाश हुआ और गुणातीत अवस्था प्राप्त हुई । फलतः सूक्ष्म शरीर का अभिमान चला गया और स्थूल शरीर का अभिमान भी संभव न रहा ।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनो नः ।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्यो-
रात्मानं धीरमजरं युवानम् ।।

: अथर्व १०/८/४४

अर्थ----निष्काम, धीर, अमर, स्वयंभू एवं रस से संतुष्ट वह परमात्मा कहीं भी न्यून नहीं है । उसको जानने वाला ज्ञानी मृत्यु से नहीं डरता, क्योंकि वह धीर, अजर एवं युवान आत्मारूप हैं ।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावत्त्यनुशासनम् ।।

कठ २/३/१५

अर्थ—जिस समय इस जीवन में ही इसके हृदय की संपूर्ण ग्रन्थियों का छेदन हो जाता है उस समय यह मरणधर्मा अमर हो जाता है । बस, संपूर्ण वेदान्तों का इतना ही आदेश है ।

५. परीक्षित-चरित्र

स एष लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः ।
गर्भे दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह ।।

श्रीमद्भागवत १/१२/३०

अर्थ––वह समर्थ राजा गर्भ में देखे हुए पुरुष का ध्यान करता रहता था और 'जगत के सर्व पुरुषों में वह पुरुष होगा या नहीं' इस प्रकार परीक्षा करता रहता था । इसीलिए वह संसार में 'परीक्षित' के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

कतरत्त आ हराणि दधि मन्थां परि श्रुतम् ।
जायाः पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ।।
अभीषस्वः प्र-जिहीते यवः पक्वः पथो बिलम् ।
जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ।।

अथर्व २०/१२७/९,१०

अर्थ––परीक्षित के राज्य में पत्नी अपने पति से पूछती है कि परिश्रुत दही-मन्था में तेरे निमित्त कितना लाऊँ ? उदररूप विल को पक्व जौ प्राप्त होता है । राजा परीक्षित के राज्य में इस प्रकार मनुष्य सुखी है ।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्ब्राह्मणो
    निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
    समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
    प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
    प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ।।

मुंडक १/२/१२,१३

अर्थ––कर्म द्वारा प्राप्त हुए लोकों की परीक्षा कर ब्राह्मण निर्वेद को प्राप्त हो जाय, क्योंकि संसार में अकृत (नित्य पदार्थ) नहीं है और कृत से

क्या प्रयोजन ? अतः उस नित्य वस्तु का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाना चाहिए।

वह विद्वान गुरु अपने समीप आये हुए उस पूर्णतया शान्तचित्त एवं जितेन्द्रिय शिष्य को उस ब्रह्म विद्या का तत्त्वतः उपदेश करे, जिससे उस सत्य और अक्षर पुरुष का ज्ञान होता है।

दूसरा अर्थ—प. पू. ब्रह्मलीन रंग अवधूत महाराज से कणभा (गुजरात) के व्याख्यान से प्राप्त, र. कृ. शास्त्री.

ब्राह्मण—ज्ञानी, लोकान् कर्मचितान् परीक्ष्य, समग्र संसार को अच्छे-बुरे कर्मों की भोग भूमि परीक्ष्य मानता हुआ अकृतःकृतेन—अनुपयुक्त कर्म करने से (ऋषिक कण्ठ में मृत सर्प रखने से, निर्वेद मायात्—अतिशोकसन्तप्त बनता हुआ, दीक्षित शिष्य बन के श्रोत्रिय—अतिज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाता है। ज्ञानी सद्गुरु उस प्रपन्न प्रशान्त शिष्य को, सत्यस्वरूप एवं अक्षर ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मविद्या परमहंस संहिता-श्री भागवत का तत्त्वपूर्ण उपदेश करता है।

तुलना—उपनिषद् के मंत्र और भागवती कथा में अन्तर केवल इतना ही है कि उपनिषद् में शिष्य को गुरु के पास जाना पड़ता है, भागवत में ब्रह्मनिष्ठ शुक स्वामी भगवदनुग्रह से शिष्यकल्याणार्थ शिष्य के पास पहुंचते हैं। यह भागवत का वैशिष्ठ्य है।

६. परीक्षित की धर्मरक्षा

वृषस्य नष्टांस्त्रीन् पादान् तपः शौचं दयामिति।
प्रतिसंदध आश्वास्य महीं च समवर्धयत्॥

श्रीमद्भागवत १/१७/४२

अर्थ—परीक्षित राजा ने धर्म के तीन पैर-तप, शौच तथा दया-जो नष्ट हो चुके थे, फिर से जोड़ दिये अर्थात् इन तीनों का प्रचार

करवाया और इस प्रकार धर्म को आश्वासन देकर पृथ्वी को भी समृद्ध किया।[1]

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश।।

ऋग्वेद १०/१२५/६

अर्थ——स्तुतियों से विमुख पुरुषों का संहार करने की इच्छा से इन्द्र जब धनुष ग्रहण करते हैं, तब मैं उनके धनुष को दृढ़ करती हूँ। मैं ही आकाश-पृथिवी से व्याप्त होकर मनुष्य के लिए संग्राम करती हूँ।

त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथाऽरन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम्।
महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्त्याय जज्ञिषे।।

ऋग्वेद १/५१/६

अर्थ——हे इन्द्र! तूने शुष्ण असुर के मारे जाने वाले संग्राम में कुत्स ऋषि की रक्षा की, अतिथिग्व ऋषि के लिए शम्बरासुर को मारा तथा महान् शक्तिशाली अर्बुद को भी पैर से कुचल डाला। तू प्राचीन काल से ही असुरों को मारने के लिए उत्पन्न हुआ है।

७. राजधर्म

राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्।
शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह।।

श्रीमद्भागवत १/१७/१६

अर्थ——अपने ऊपर आपत्ति न आने पर भी जो लोग कुमार्गगामी बन जाते हैं, उन अधर्मियों को शास्त्र के अनुसार दण्डित करनेवाले राजा का यही परम धर्म है कि वह स्वधर्म में रहने वाले लोगों की रक्षा करे।

---

① इस श्लोक के विशिष्ट वेद-समन्वय के लिए देखिए :
श्रीवल्लभाचार्यविरचित श्रीगायत्रीभाष्य
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम् (मनु)
यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (कणाद)

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो धर्मा अनु रेत आगुः ।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् ॥

अथर्ववेद ८/९/१३

अर्थ––तीनों धर्म सत्य के मार्ग के अनुकूल बनते हैं । तीनों यज्ञ वीर्य के अनुकूल बनते हैं । एक प्रजा-संतति को तृप्त करता है, दूसरा बल की रक्षा करता है और तीसरा देव के साथ संयोग करने वाले राष्ट्र की रक्षा करता है ।

८. आततायी को मारो

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ।

श्रीमद्भागवत १/७/५३

अर्थ––ब्राह्मण नीच हो तो भी उसे मारना नहीं चाहिए, किन्तु आततायी* हो तो उसे भी मारना चाहिए । ये दोनों बातें मैंने (भगवान् ने) कही हैं । अतः इन दोनों आज्ञाओं का पालन हो ।

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥

ऋग्वेद १०/८७/१६ अथर्व ८/३/१५

अर्थ––जो मनुष्यों के मांस से अपने आपको पुष्ट करता है, जो दुष्ट अश्व-आदि पशुओं के माँस से स्वयं को पुष्ट करता है, जो गाय के दूध को चुरा के ले जाता है, उनके मस्तकों को, हे अग्नि, अपने बल से तोड़ दे ।

---

*अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्यततायिनः ॥

९. ज्ञानयज्ञ

ज्ञानयज्ञं करिष्यामि शुकशास्त्रकथोज्ज्वलम् ।
भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनार्थं प्रयत्नतः ।।

श्रीमद्भागवत ३/१ माहात्म्यम्

अर्थ--(नारद मुनि बोले-) भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की स्थापना के लिए मैं प्रयत्नपूर्वक शुकशास्त्र-श्रीमद्भागवत की कथा से उज्ज्वल ज्ञानयज्ञ शुरू करूँगा ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।

यजुर्वेद ३१/१६

अर्थ--देवों ने यथोक्त मानस-संकल्प रूप यज्ञ से यज्ञस्वरूप प्रजापति का यजन किया । उससे जगद्रूप विकारों के धारक मुख्य भूत-प्राणि उत्पन्न हुए । जिस विराट् प्राप्ति रूप स्वर्ग में पुरातन विराट् उपाधि के उपासक देव रहते हैं उस स्वर्ग को ही वे महात्मा प्राप्त करते हैं ।

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भ्दुत प्रियः पुतसोमो मियेधः ।
यज्ञेन यज्ञमव यज्ञियः सन् यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य आवत् ।।

ऋग्वेद ३३/३२/१२

अर्थ--हे इन्द्र ! यज्ञ तुझे बढ़ाने वाला हुआ, और हवन के योग्य तैयार किया गया सोम तुझे प्रिय हो गया है । तू पूज्य होता हुआ संगठन के द्वारा इस यज्ञ की रक्षा कर और यह यज्ञ अहि को मारने वाले युद्ध में तेरे वज्र की रक्षा करे ।

द्वितीयः स्कन्धः

१०. हृदय में भगवद्धारणा

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्ग शंख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति ।।

प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्बकिञ्जल्क पिशङ्गवाससम् ।
लसन्महारत्न हिरण्मयाङ्गदं
स्फुरन्महारत्न किरीटकुण्डलम् ।।
उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये
योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम् ।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धर-
मम्लान लक्ष्म्या वनमालयाऽऽचितम् ।।
विभूषितं मेखलयांगुलीयकै-
र्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलै-
र्विरोचमानाननहासपेशलम् ।।
अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्-
भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं
यावन्मनो धारणयावतिष्ठते ।।

श्रीमद्भागवत २/२/८-१२

अर्थ—कुछ लोग अपने शरीर में हृदयाकाश में रहे हुए प्रादेश-प्रमाण पुरुष का धारणा द्वारा ध्यान करते हैं। यह पुरुष चार भुजा वाले तथा कमल, चक्र, शंख और गदा को धारण करने वाले हैं। जब तक धारणा से मन स्थिर हो जाय तब तक उस हृदयाकाश-स्थित ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। यह ईश्वर प्रसन्न मुख वाले, कमल के समान विशाल नेत्र वाले, कदंब-पुष्प के केसर के समान पीले वस्त्र पहनने वाले, चमकते श्रेष्ठ रत्न-जड़ित सुवर्ण बाहुबंध धारण करने वाले, बड़े-बड़े चमकीले रत्नों से जड़ित मुकुट तथा कुंडल से सुशोभित हैं। उनके चरण-कमलों को बड़े-बड़े योगी अपने विकसित हृदय-कमल की कलीरूप स्थान में धारण करते हैं। वे लक्ष्मी से चिह्नित, गले में कौस्तुभ मणि धारण करने वाले, नित्य नवीन शोभा से युक्त वनमाला पहनने वाले, कटिमेखला से युक्त, महा मूल्यवान अंगूठियों, नुपूर, कंकण आदि से सुशोभित, चमकीले तथा निर्मल घुँघराले काले बालों

से सुशोभित मुख वाले एवं हास्य के कारण सुंदर लगते हैं। उदार लीला-हास्यपूर्ण दृष्टिपात तथा भृकुटी विलासों द्वारा अपना महान् अनुग्रह प्रकट करने वाले ईश्वर का दर्शन करें, क्योंकि वे ध्यानमात्र से हृदय में प्रकट होते हैं।

अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ।
हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं
विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ।।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ।।

कैवल्योपनिषद् १/५-६

अर्थ—व्यक्ति को चाहिए कि अन्तिम आश्रम (संन्यस्त) में रहकर, सारी इन्द्रियों को संयमित कर भक्तिपूर्वक गुरु को प्रणाम कर, अपने हृदयरूपी कमल को रजोगुण से शुद्धकर उस परम पुरुष का ध्यान करे, जो अचिन्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, शिव-कल्याणरूप, शान्त, अमृत, ब्रह्म का उत्पत्तिस्थान, आदिःमध्य-अन्त से रहित, विभु, चिदानन्दरूप, अरूप तथा अद्भुत है।

११. योग धारणा

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद् धिया ।।

श्रीमद्भागवत २/१/२३

अर्थ—आसन तथा श्वास को जीतकर, संग का त्याग कर, सब इन्द्रियों को वश में कर भगवात् के स्थूल स्वरूप में अपने मन को बुद्धि के द्वारा लगाना चाहिए। यही धारणा का स्वरूप है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकाथः समभ्यसेत् ।।
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ।।
मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ।।
प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ।।

३/२८/८-११

अर्थ––आसन पर विजय प्राप्त करने वाला योगी पवित्र प्रदेश में आसन की स्थापना करे। उसके ऊपर सीधा शरीर रखे हुए स्वस्तिकासन से बैठे और इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करे––पूरक, कुंभक और रेचक से अथवा उससे विपरीत रेचक, कुंभक और पूरक से प्राणवायु के शिराओं वगैरह मार्ग शुद्ध करे, ताकि मन स्थिर बन जाय और पुनः चंचल न हो। जिस प्रकार वायु तथा अग्नि से तपाया हुआ सुवर्ण निर्मल बनता है उसी प्रकार प्राणवायु पर विजय प्राप्त करने वाले योगी का मन कुछ ही समय में निर्मल हो जाता है। प्राणायाम से वात, पित्त और कफ–इन तीनों दोषों को भस्म करना, धारणाओं से पापों का नाश करना, प्रत्याहार से विषयों के सम्बन्ध को नष्ट करना तथा ध्यान से रागादि अनीश्वर गुणों का नाश करना चाहिए।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।।
प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः।।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।।

श्वेताश्वतर २/८-१०

अर्थ––(शिर, ग्रीवा और वक्षः स्थल–इन) तीनों को ऊँचे रखते हुए शरीर को सीधा रख मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में सन्निविष्ट कर विद्वान् ओंकाररूप नौका के द्वारा संपूर्ण भयानक जल-प्रवाहों को पार कर जाता है।

साधक को चाहिए कि युक्त आहार-विहार करता हुआ प्राणों का निरोध कर, जब प्राण शक्ति (प्राण धारण का सामर्थ्य) क्षीण हो जाय तब नासिकारन्ध्र द्वारा उसे बाहर निकाल दे। फिर वह विद्वान् पुरुष दुष्ट अश्व से युक्त रथ के सारथि के समान सावधान होकर मन का नियंत्रण करे।

जो समतल और पवित्र हो शर्करा, अग्नि और बालू से रहित हो तथा शब्द, जल और आश्रयादि से शून्य हो, मन के अनुकूल हो तथा नेत्रों को पीड़ा देने वाला न हो ऐसे गुहा आदि वायुशून्य स्थान में मन को युक्त करे।

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।

सामवेद पू. २/१/५/९

अर्थ––मेधावी पुरुष पहाड़ों की गुहा में तथा नदियों के संगम-स्थान पर बुद्धि की एकाग्रता को उत्पन्न करता है।

१२. आत्मा की ब्रह्मगति

तेनात्मनाऽऽत्मानमुपैति शान्त-
मानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः
स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग ।।

श्रीमद्भागवत २/२/३१

अर्थ—प्रकृति स्वरूप होने के बाद उन-उन उपाधियों का नाश होने पर आनंदमय बना हुआ वह योगी शान्त तथा आनंद स्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। जो मनुष्य इस प्रकार की भगवद्गति प्राप्त करता है वह पुनः संसार-चक्र में नहीं पड़ता।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥

कठ २/३/१४-१५

अर्थ—जिस समय संपूर्ण कामनाएँ, जो कि इसके हृदय में आश्रय करके रहती हैं, छूट जाती हैं उस समय वह मर्त्य (मरण धर्मा) अमर हो जाता है और इस शरीर से ही ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है।

जिस समय इस जीवन में ही इसके हृदय की संपूर्ण ग्रन्थियों का छेदन हो जाता है उस समय यह मरणधर्मा अमर हो जाता है। बस, संपूर्ण वेदान्तों का इतना ही आदेश है।

१३. सनातन प्रश्न

यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो।
यत्संस्थं यत्परं यच्च तत् तत्त्वं वद तत्त्वतः॥

श्रीमद्भागवत २/५/२

अर्थ—हे प्रभो, यह जगत् जिससे प्रकाशित है, जिसके आश्रय में है, जिससे निर्माण होता है, जिसमें लय होता है, जिसके आधीन है और जैसा है उसका यथार्थ स्वरूप मुझे कहिए।

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥

केनोपनिषद् १/१

अर्थ—यह मन किसके द्वारा इच्छित और प्रेरित होकर अपने विषयों में गिरता है ? किससे युक्त होकर प्रथम (प्रधान) प्राण चलता है ? प्राणी किसके द्वारा इच्छा की हुई यह वाणी बोलते हैं ? और कौन देव चक्षु तथा श्रोत्र को प्रेरित करता है ?

१४. विराट का अविर्भाव

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ।।
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ।।

श्रीमद्भागवत २/५/३५,३६

अर्थ--वह पुरुष (परमात्मा) ब्रह्मांड को भेदकर उसमे से हजारों ऊरु, पग, बाहु तथा नेत्रों वाले और हजारों मुखों तथा मस्तकों वाले विराट रूप में बाहर निकले । विद्वान उनकी कमर आदि नीचे के अवयवों से अतल आदि सात नीचे के लोकों की और जंघा आदि ऊपर के अवयवों से पृथ्वी आदि सात ऊपर के लोकों की कल्पना करते हैं ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ।।

यजुः. ३१/१

अर्थ–सारे चराचर जगत् के समष्टि और व्यष्टिरूप विराट् नामक परमात्मा का शरीर अर्थात् विराट पुरुष सहस्रों सिरवाला, सहस्रों नेत्रवाला और सहस्रों पैरवाला है, जगत् में सब प्राणियों के हाथ, पाँव, सिर, नेत्र भुजाएँ आदि इसी में हैं। वह परम पुरुष ब्रह्मांड गोलक रूप को चारों ओर घेरकर दश अंगुल परिमित देश को अतिक्रमण करके ठहरा हुआ है ।

१५. विराट का स्वरुप

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ।।
श्रीमद्‌भागवत २/६/१५

अर्थ–भूत, भविष्य तथा वर्तमान में जो कुछ घटित होता दिखाई देता है वह सर्व यह पुरुष रूप ही है। यह विराट इस जगत् में जगत् से भी अधिक स्वरूप में व्याप्त है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ।।
यजु. ३१/१

अर्थ–सारे चराचर जगत् के समष्टि और व्यष्टिरूप विराट नामक परमात्मा का शरीर अर्थात् विराट पुरुष सहस्रों सिरवाला, सहस्रों नेत्रवाला और सहस्रों पैरवाला है, क्योंकि जगत् में सब प्राणियों के हाथ, पाँव, सिर, नेत्र, भुजाएँ आदि इसी में है। वह परम पुरुष ब्रह्मांड गोलक रूप को चारों ओर घेरकर दश अंगुल परिमित देश को अतिक्रमण करके ठहरा हुआ है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।
ऋग्वेद १०/८१/३

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतो मुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः ।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ।।
अथर्व. १३/२/२६

अर्थ–जो परम पुरुष परमात्मा, समस्त जगत् का द्रष्टा और चारों ओर बाहु और हाथवाला, चारों ओर पैरवाला, चारों ओर व्यापक है, वह एक ही सर्वद्रष्टा परमात्मा, आकाश और पृथिवी को तथा आकाश और अप्राणियों को अपने कर्मशील मार्गों से भली प्रकार उत्पन्न करता हुआ अपने बाहुओं से उनका भली प्रकार भरण पोषण करता है।

१९

विराट् का व्यापकत्व

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥

श्रीमद्भागवत २/६/१५

अर्थ–भूत, भविष्य तथा वर्तमान म जो कुछ घटित दिखाई देता है वह सब यह पुरुष रूप ही है। यह विराट् इस जगत् म जगत् से भी अधिक स्वरूप में व्याप्त है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

यजु. ३१/२

अर्थ–यह वर्तमान, अतीत तथा भविष्य का सर्वं जगत् पुरुष ही है। देवों का स्वामी भी वही है, क्योंकि प्राणियों के भोग्य अन्नादि द्वारा अपनी कारणावस्था का अतिक्रमण कर परिदृश्यमान जगद्-अवस्था को को प्राप्त होता है।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।
भूतं च यत्र भव्यञ्च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि ॥

अथर्व १०/९/२२

अर्थ–हे जीवात्मन् ! जिस परमात्मा के विराट स्वरूप में सब सूर्य तथा प्रकाश करने वाले चन्द्र, विद्युत् तारा, अग्नि भी तथा एकादश रुद्र और आठ वसुगण भली प्रकार स्थित हैं। और परमात्मा के जिस विराट् स्वरूप में उत्पन्न हुआ जगत् और आगे उत्पन्न होने वाला जगत् और सारे लोक-लोकान्तर स्थित हैं, उसे ब्रह्म कह।

१७. विराट् की महत्ता

सोऽमृतस्यामयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् ।
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः ।।

श्रीमद्भागवत २/६/१७

अर्थ–उस विराट पुरुष ने नाशवान् सब कर्म फलों का त्याग किया है, अतः वह केवल सर्वात्मा है, इतना ही नहीं, अमृतत्व रूप आत्मानंद मोक्ष के भी ईश्वर है। हे ब्रह्मन्, उस विराट् पुरुष की महिमा अपार है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।

यजु. ३१/३

अर्थ–सारा जगत् इस पुरुष की विभूति है। पुरुष जगत् से अधिक है। सर्व भूत प्राणी उसके चतुर्थांशरूप हैं। उसका अवशिष्ट त्रिपाद् स्वरूप विनाश रहित है। वह द्योतनात्मक-प्रकाशात्मक स्वप्रकाशरूप में अवस्थित है।

न त्वावां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ।।

अथर्व २०/१२१/२

अर्थ–हे पूज्य ! परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! तेरे जैसा अर्थात् तेरी समता करने वाला, अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुआ, और कोई नहीं है तथा पृथिवी पर उत्पन्न हुआ और तेरे जैसा न हुआ है, न कोई होगा अर्थात् तोनों लोकों में तेरे समान कोई नहीं है। हम बलवान अश्व की और गौओं की इच्छा करते हुए तुझे बुलाते हैं।

१८. विराट् के एक चरण में सर्व का समावेश

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु ।।

श्रीमद्भागतत २/६/२८

अर्थ—भूर्लोक आदि सर्व लोक जिनके अंश है ऐसे विराट् पुरुष के अंशरूप लोकों में सब जीव निवास करते हैं, ऐसा विद्वान कहते हैं। उस भगवान् ने महर्लोक के ऊपर आए हुए तीन लोक-जन, तप तथा सत्य लोक में क्रमशः अमृत-अविनाशी, सुख तथा अभय-मोक्ष-सुख रखे हैं।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।।

यजु. ३१/३

अर्थ—यह त्रिकालात्मक विश्व इस पुरुष की महिमा है और वह पुरुष स्वयं इस विश्व से अत्यधिक है। सभी प्राणी समूह इस पुरुष के चतुर्थ भाग हैं। इस पुरुष का त्रिपाद् रूप अविनाशी और अपने ही प्रकाशात्मक स्वरूप से स्थित है।

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ।।

अथर्व १०/७/२५

अर्थ—यह बात प्रसिद्ध है कि पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि बड़े-बड़े देवता वे हैं जो असत्, कारणरूप प्रकति से प्रकट हुए हैं। वह ब्रह्म का एक अंग है, जिसे मनुष्य परम श्रेष्ठ कारण कहते हैं वह कारण भी ब्रह्म का स्वरूप है।

१९. विराट के तीन चरण–क्षेम, अमृत, अभय

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु ॥

श्रीमद्भागवत २/६/१८

अर्थ–ऊपर देखिए ।

त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङः व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥

यजु. ३१/४

अर्थ–संसार के स्पर्श से हीन यह तीन पद वाला पुरुष उच्च स्थान में स्थित हुआ है । इसका एक पाद इस संसार में सृष्टि संहार-द्वारा बारंबार आवागमन करता है और विविध रूप होकर स्थावर जंगम प्राणियों को देखता हुआ व्याप्त करता है ।

न त्वावां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥

अथर्व २०/१२१/२

अर्थ–हे पूज्य ! परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! तेरे जैसा अर्थात् तेरी समता करने वाला, अन्तरिक्ष में उत्पन्न हुआ और कोई नहीं है तथा पृथिवी पर उत्पन्न हुआ और तेरे जैसा न हुआ है, न कोई होगा । अर्थात् तीनों लोकों में तेरे समान कोई नहीं है । हम बलवान अश्व की और गौओं की इच्छा करते हुए तुझे बुलाते हैं ।

२०. विराट् से विद्या-अविद्या

सृती विचक्रमे विष्वङः साशनानशने उभे ।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः ॥

श्रीमद्भागवत २/६/२०

अर्थ–अनेक लोकों में जाने वाला आत्मा कर्मभोग और मोक्षप्राप्ति के साधन दो मार्गों से जाते हैं अर्थात् कर्मफल के भोग से युक्त दक्षिण मार्ग में अथवा मोक्षप्राप्ति के मार्ग में साधन उत्तर मार्ग में जाते हैं,

क्योंकि उस मार्ग में एक अविद्या–कर्मरूप और दूसरी विद्या–ज्ञानसाधन उपासना रूप है। आत्मा इन दोनों मार्गों का आश्रयवाला है।

त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुन :
ततो विष्वङ व्यक्रा मत्साशनानशने अभि ।।

यजु. ३१/४

अर्थ–यह परमात्मा त्रिपाद रूपी जगत के उस पार प्रकाशित होता है। यद्यपि वह त्रिकाल में अविकारी सृष्टि में व्यापारी है तथापि अविद्या, अंधकार, अज्ञान, जन्म-मरण आदि दुखों का उसे स्पर्श नहीं होता। दो प्रकार के जगत् को उत्पन्न कर वह सर्वत्र व्याप्त है–एक, भोजनादि व्यवहार करने वाला जीव–चेतनादि सहित जंगम और दूसरा, भोजन न करने करने वाला स्थावर जगत।

२१. विराट से जड-चैतन्य सृष्टि

यस्मादण्डं विराड् जज्ञे भूतेन्द्रियगणात्मकः ।
तद् द्रव्यमत्यगाद् विश्वं गोभिः सूर्य इवातपन् ।।

श्रीमद्भागवत २/६/२१

अर्थ–जिससे यह ब्रह्मांड एवं पांच भूत, इन्द्रियाँ, गुणमय विषय, मन तथा बुद्धिमय विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ है वह ईश्वर, किरणों से प्रकाशित सूर्य जैसे अपने बिम्ब को तथा बिंब से बाहर के पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार, ब्रह्मांड में तथा उसके बाहर भी व्याप्त है।

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ।।

यजु. ३१/५

अर्थ–उस आदि पुरुष से विराट–ब्रह्मांडदेह उत्पन्न हुआ। विराट्-देह का अभिमानी पुरुष उत्पन्न हुआ। वह विराट् पुरुष प्रकट होकर देव, तिर्यक् तथा मनुष्यादि रूप बना। उसने देवादि जीवभाव के उपरान्त भूमि की रचना करी, शरीरों का सृजन किया।

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्वः पशुपते नमस्ते ।

अथर्व ११/२/९

अर्थ–हे जीवाधिराज ! संसारोत्पत्ति स्थानरूप ! तुम परमात्मा को चार बार नमस्कार हो, आठ बार नमस्कार हो, दस बार नमस्कार हो अर्थात् सैंकड़ों बार नमस्कार हो ।

२२. विराट् विश्वरूप यज्ञ और उसके साधन

यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः ।
नाविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवादृते ।।
तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः ।
इदं च देवयजनं कालश्चोरु गुणान्वितः ।।
वस्तून्योषधयः स्नेहा रसलोहमृदो जलम् ।
ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम ।।
नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च ।
देवतानुक्रमः कल्पः संकल्पस्तन्त्रमेव च ।।
गतयो मतयः श्रद्धा प्रायश्चित्तं समर्पणम् ।
पुरुषावयवैरेते सम्भाराः संभृता मया ।।

श्रीमद्भागवत २/६/२२-२६

अर्थ–विराट् के अंतर्यामी महात्मा इस परमेश्वर की नाभि से जब मैं उत्पन्न हुआ था तब उस परम पुरुष के अवयवों के सिवा अन्य कोई यज्ञ-सामग्री मैंने नहीं देखी थी । फिर उस समय पशु, वनस्पति-सहित दर्भ, यज्ञभूमि, अनेक गुणों से युक्त वसन्तादि काल, पात्रादि वस्तु, चावल वगैरह औषधियाँ, धान्य, घी वगैरह स्निग्ध पदार्थ मधुरादि रस, लौह आदि धातु, मिट्टी, जल, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चातुर्होत्र कर्म, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों के नाम, स्वाहाकार आदि मंत्र, दक्षिणा, व्रत, देवता, उद्देश्य, कल्प बौद्धायन आदि कर्मपद्धति के ग्रंथ,

'मै इसके द्वारा यज्ञ करूँगा' ऐसा संकल्प, यज्ञ करने का प्रकाररूप तंत्र, विष्णुक्रमादि गतियां, देवताओं का ध्यान आदि मतियाँ, प्रायश्चित तथा यज्ञ का ईश्वर-समर्पण—ये सब सामग्रियाँ मैने उस परमपुरुष के अवयवों से ही तैयार कीं।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वयव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ।।
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।।
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ।।

यजुर्वेद ३१/६/८

अर्थ—सब के लिए पूजनीय उस सर्वव्यापक परमात्मा की शक्ति से अन्न घृतादि पदार्थ उत्पन्न हुए। उसके उत्पन्न किये हुए पदार्थ नित्य जीवों के उपयोगी हैं। अतः सब परमात्मा की अनन्य भाव से उपासना करें। सब प्राणियों को उसी ने उत्पन्न किया है—ग्राम्य एवं आरण्यक पशुओं को भी।

उस परमेश्वर से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अर्थवेद उत्पन्न हुए हैं।

उस परमेश्वर के सामर्थ्य से अश्वादि पशु उत्पन्न हुए। जिन प्राणियों के दोनों ओर दाँत हैं ऐसे ऊँट और गधे आदि पशु उत्पन्न हुए। गायों को भी उस सर्वव्यापक पर परमेश्वर ने ही उत्पन्न किया। बकरियाँ तथा भेड़ भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं।

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः ।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो
यन्त्वघरुदो विकेश्यः ।।

अथर्व. ११/२/११

अर्थ—हे जीवमात्र के स्वामी परमात्मन्! आप परमात्मा का यह विराट् देह परम महान् है, सकल प्राण्यप्राणियों का मूल बीजरूप है और

जीवों के वासस्थान सूर्यपृथिव्यादि जिसके धान है अर्थात् कणरूप हैं और ये दृश्यमान सारे लोक जिस विराट् देह के भीतर वास करते हैं। हे परमात्मन् ! आपको नमस्कार हो। दूसरे कोलाहल करने वाले सियार आदि, अपने बल और तेज के प्रकाश से दूसरे के बल और तेज को दबाने वाले सिंहादि जीव, कुत्ते, पापाचरण के कारण अत्यन्त उग्र कोलाहल मचाने वाले जीव और विविध प्रकार के भयंकर बालोंवाले अथवा बालों से रहित मुँड़े हुए सिरों वाले ये सब आप में विद्यमान हैं जिनसे मुझे भय लगता है। अतः वे मेरे नेत्रों से दूर हों। वह सच्चिदानन्द परमात्मा हमें सुखी करे।

२३. चार वर्णों की उत्पति

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥

श्रीमद्भागवत २/५/३७

अर्थ—इस विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, ऊरुओं से वैश्य तथा उनके दो पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥

यजुर्वेद ३१/११

अर्थ—ब्राह्मण इस प्रजापति का मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य जंघा और शूद्र चरण रूप हुआ।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिरोह ब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥

ऋग्वेद १०/७१/८

अर्थ—जो ब्राह्मण वर्णवाले मनुष्य चित्तवृत्ति से सूक्ष्म से सूक्ष्म आत्मसम्बन्धी विचार में लाए हुए, मन की दौड़धूप से बचकर शान्ति, संयम, इन्द्रियनिग्रह के वेगों में समान रूप होकर अर्थात् समदृष्टिवाले होकर संसार में भली प्रकार से यजन करते हैं अर्थात् अपनी जीवन-यात्रा

चलाते हैं, इस ब्राह्मणसमुदाय में जानने योग्य शम-दमादि प्रवृत्तियों से एक को अर्थात् केवल जन्ममात्र से ब्राह्मण को शम, दम, शान्ति, ज्ञान विज्ञानों से छोड़ दिया अर्थात् वह जन्म का ब्राह्मण रहा। कई एक दूसरे, सब प्रकार से तर्क द्वारा ब्रह्म अर्थात् श्रुति, स्मृति और बुद्धि द्वारा संसार में विचरते हैं।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।

ऋग्वेद १०/३४/१३

अर्थ–हे वैश्य ! तू पासों से द्युतक्रीड़ा मतकर अर्थात् जुआ या सट्टा द्वारा धन कमाने का प्रयत्न मत कर ; हल चला अर्थात् खेती कर, जिससे अन्न उत्पन्न होगा, अन्न-विक्रय द्वारा तुझे बहुत धन मिल जायगा। इस काम से अपने आपको धन्य अर्थात् अच्छा मानता हुआ, अन्न द्वारा उत्पन्न हुए धन से रमण कर।

इहेद साथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत्।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु॥

अथर्ववेद ३/८/४

अर्थ–परमात्मा राजा द्वारा शूद्र जाति को उपदेश देता है कि हे शूद्रो ! तुम इसी नगर और इसी देश में रहो। क्षत्रियों के समान युद्ध-भूमि में युद्ध करने के लिए मत जाओ, प्रत्युत युद्ध के समय तुम यहाँ रहकर अस्त्र-शस्त्रादि तथा विस्फोट पदार्थ तैयार करो। इसी प्रकार वैश्यों के समान व्यापार करने के लिए बाहर मत जाओ। यहाँ उनकी यात्रा के लिए शकटादि वाहन तैयार करो। अतः, इस देश को छोड़-कर दूर देश-देशांतरों में मत जाओ। खेती करने से अन्नादि पदार्थों का उपजाने वाला, तुम्हारी जीवनयात्रा को शुभ रूप से चलाने वाला गो-सेवक वैश्य, तुम्हारे पुष्टिकारक अर्थात् पालन पोषण करने वालों का स्वामी, क्षत्रियराज अथवा राजा, तुम सबको अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य सेवकों को ठीक मार्ग पर चलाता है। सब देवता अथवा, दैवी गुणवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सब विद्वान्, शिलपीजन अपनी शिलपकला में पूरे रहें, इसी इच्छा से उनकी इच्छाशक्तियाँ तुम शिल्पिओं की ओर प्राप्त हों अर्थात् शिलपकला की बुद्धि के लिए धनादि पदार्थों की विशेष आवश्यकता होने पर वे सहायक बने रहे।

२४. विराट् में लोक-कल्पना

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ।।

श्रीमद्भागवत २/५/३८

अर्थ–उस महान् विराट् पुरुष के दो चरणों में भूलोक, नाभि में भुवर्लोक, हृदय में स्वर्गलोक तथा वक्षः स्थल में महर्लोक की कल्पना की गई है ।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ।।

यजु. ३१/१३

अर्थ–इस विराट् पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से स्वर्ग, पावों से पृथिवी और श्रोत्र से सब दिशाएँ उत्पन्न हुईं । इसी प्रकार लोकों की कल्पना की गई ।

२५. विराट् के विश्वयज्ञ में उसी के साधनों से उसकी उपासना

इति संभृतसम्भारः पुरुषावयवैरहम् ।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम् ।।

श्रीमद्भागवत २/६/२७

अर्थ–इस प्रकार परमपुरुषों के अवयवों से सब यज्ञ-सामग्री को एकत्रित करके मैंने सर्वेश्वर उसी यज्ञपुरुष का उसके द्वारा यजन किया ।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ।।
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।

यजुर्वेद ३१/९,१६

अर्थ–सृष्टि के पूर्व उस यज्ञ-साधन-भूत पुरुष को यज्ञ में संस्कृत करते हुए मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने उसी पुरुष से मानस याग को सम्पन्न किया।

मानस-यज्ञ के द्वारा देवताओं ने यज्ञरूप प्रजापति की पूजा की और वे धर्मधारकों में प्रमुख हुए। जिस स्वर्गलोक में प्राचीन साध्य देवता निवास करते हैं, उसी स्वर्ग को सिद्ध महात्माजन प्राप्त होते हैं।

२६. वैश्वानर-मार्ग

वैश्वानरं याति विहायसा गतः
सुषुम्णया ब्रह्मपथेन शोचिषा।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तान्
प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम्॥

श्रीमद्भागवत २/२/२४

अर्थ–हे राजन्, मलिनता का त्याग करनेवाला योगी ब्रह्मलोक के मार्ग ज्योतिर्मय सुषुम्णा नाडी द्वारा आकाश मार्ग से अग्निलोक में जाते हैं। वहाँ उनकी बची हुई सब मलिनता भस्म हो जाती है। फिर वहाँ से वे ऊपर श्री हरि के शिशुमार नामक ज्योतिश्चक्र को प्राप्त करते हैं।

वैश्वानस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः॥

अथर्ववेद ८/९/६

अर्थ–ऊपर जो द्युलोक है वह वैश्वानर की प्रतिमा है। जहाँ अग्नि द्युलोक और पृथ्वी को बाधित करता है वहाँ से दूर के छट्ठे स्थान से स्तोम ऋषि आते हैं और वे यहाँ से छठे दिन के बाद निकलते हैं।

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्ष मारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥

अथर्ववेद ४/१४/३

अर्थ—परमात्म-चिन्तन करने वाला मैं ब्रह्मज्ञानी इस मनुष्यलोक से अग्नि द्वारा पार्थिव शरीर को छोड़कर समग्र ज्योतिषियों के आश्रयभूत आकाश पर उर्ध्वक्रम से चढ़ता हूँ। फिर अन्तरिक्ष से प्रकाशमान, सूर्य को प्राप्त होता हूँ। प्रकाशमान सुखनिमित्त सूर्य के पृष्ठ से मैं यथाक्रम ऊपर जाता हुआ सुखमय, प्रकाशस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता हूँ, जिस मार्ग से फिर संसार में कोई लौटकर नहीं आता।

२७. ब्रह्मस्वरूप

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् ।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥

श्रीमद्भागवत २/६/३९

अर्थ—वह भगवान केवल ज्ञानरूप, सत्यतत्त्व, विषयाकार से रहित, स्थिर, सत्यस्वरूप, पूर्ण, जन्मनाश से रहित, निर्गुण तथा हरकाल में अद्वैत है ॥

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥

श्वेताश्वर ६/१९

अर्थ—वह कलाहीन, क्रियाहीन, शान्त, अनिद्य, निर्लेप, अमृतत्व का उत्कष्ट सेतु और जिसका ईंधन जल चुका है ऐसे (धूमादि शून्य) अग्नि के समान देदीप्यमान है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(ईश ८)

अर्थ—वह सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयंभू है। उसी ने नित्य-सिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों को लिए यथायोग्य रीति से अर्थों (कर्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है।

२८. चिरंतन ब्रह्म

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
श्रीमद्भागवत २/९/३२

अर्थ–सृष्टि के पूर्व में मैं ही था। अन्य जो स्थूल और सूक्ष्म तथा उन दोनों का कारण माया, यह कुछ न था। (वह भी मेरे में लीन थी।) सृष्टि के बाद भी मैं रहता हूँ। जो यह जगत दिखाई देता है वह भी मैं ही हूँ और प्रलय के बाद जो कुछ बाकी रहता है वह भी मैं ही हूँ।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
ईश ५

अर्थ–वह आत्मतत्त्व चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्तर्गत है और वही इस सब के बाहर भी है।

२९. माया का स्वरूप

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥
श्रीमद्भागवत २/९/३३

अर्थ–जो वास्तविक वस्तु नहीं है वह भी जिस आत्मरूप आश्रय के कारण मालूम पड़ती है और जो वास्तविक वस्तु है वह मालूम नहीं पड़ती उसे मेरी माया जानें। जिस प्रकार चन्द्र एक ही है फिर भी नेत्र विकार के कारण दो होने का भास होता है और राहु ग्रहमण्डल में होने पर भी दिखाई नहीं देता।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
ईश ९

अर्थ–जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे (अविद्या रूप) घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या (उपासना) में ही रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।

कठ १/२/५

अर्थ–वे अविद्या के भीतर रहने वाले, अपने-आप बड़े बुद्धिमान बने हुए और अपने को पण्डित मानने वाले, मूढ़ पुरुष अन्धे से ही ले जाये जाते हुए अन्धे के समान अनेकों कुटिल गतियों की इच्छा करते हुए भटकते रहते हैं।

३०. ईश्वर उभयान्वयी

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्य प्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ।।

श्रीमद्भागवत २/९/३४

अर्थ–जिस प्रकार पंच महाभूत छोटे-बड़े प्रत्येक भौतिक पदार्थ में सृष्टि के बाद प्रविष्ट हुए हैं (क्योंकि वे सब पदार्थों में दिखाई देते हैं) और नहीं भी हुए हैं (क्योंकि सृष्टि के पहले ही कारण रूप में वे महाभूत उन-उन भौतिक पदार्थों में रहे हुए ही हैं) उसी प्रकार मैं भी उन-उन महाभूतों में और सब भौतिक पदार्थों में रहा हुआ हूँ फिर भी नहीं रहा। (ऐसी मेरी सर्वत्र स्थिति है।)

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।

श्वेताश्वतर ६/११

अर्थ–समस्त प्राणियों में स्थित एक देव है, वह सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ, सब का साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करने वाला, शुद्ध और निर्गुण है।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।।

मुंडक २/१/२

अर्थ–वह अक्षर ब्रह्म निश्चय ही दिव्य, अमूर्त पुरुष, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवं श्रेष्ठ अक्षर से भी उत्कृष्ट है।

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष–
मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या ।
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ।।

मुंडक २/२/५

अर्थ–जिसमें द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण प्राणों के सहित मन ओतप्रोत है उस एक आत्मा को ही जानो और सब बातों को छोड़ दो। यही अमृत का सेतु (मोक्ष-साधन) है।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ।।

अर्थ–यह महान् दिव्य और अचिन्त्य रूप है। यह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मत्तर भासमान होता है तथा दूर से भी दूर और इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है। वह चेतनावान् प्राणियों में इस शरीर के भीतर उनकी बुद्धिरूप गुहा में छिपा हुआ है।

३१. अन्वय-व्यतिरेक से ईश्वर-सिद्धि

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा ।।

श्रीमद्भागवत २/९/३५

अर्थ–आत्मा के तात्त्विक स्वरूप को जानने की इच्छावाले मनुष्य को इतना ही जानना पर्याप्त है कि जो वस्तु अन्वय तथा व्यतिरेक से सब स्थानों में सर्वदा है वही आत्मा है।*

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।

श्वेताश्वतर ६/८

अर्थ–उसके शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं, उसके समान और उससे बढ़कर भी कोई दिखाई नहीं देता, उसकी पराशक्ति नाना प्रकार की ही सुनी जाती है और वह स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया और बलक्रिया है ।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ।।

कठ १/२/२१

अर्थ–वह स्थिर हुआ भी दूर तक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है । मद (हर्ष) से युक्त और मद से रहित उस देव को भला मेरे सिवा और कौन जान सकता है ?

---

* प्रत्येक कार्य में कारण रूप में रहना यह 'अन्वय' है तथा कारण-अवस्था में उन-उन कार्यों से अलग होना 'व्यतिरेक' है । अन्वय व्यतिरेक के बारे में पञ्चदशी नामक ग्रंथ में इस प्रकार कहा गया है––

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः ।
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम् ।। (तत्वविवेक ३८)

३२. ईश्वर-के अनुग्रह से किसी भी पदार्थ का अस्तित्व

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ।।

श्रीमद्भागवत २/१०/१२

अर्थ–जिस नारायण भगवान के अनुग्रह से द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव तथा जीव कार्य करने के लिए समर्थ बनते हैं परन्तु उनकी उपेक्षा से कुछ भी नहीं कर सकते ।

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।

यो वायौ तिष्ठन् वायोन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठम् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ।।

बृहदारण्यक ३/७/३,४,५,७,१२,१५

अर्थ–जो पृथिवी में रहनेवाला पृथिवी के भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथिवी का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

जो जल में रहने वाला जल के भीतर है, जिसे जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर जल का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है

जो अग्नि में रहनेवाला अग्नि के भीतर है, जिसे अग्नि नहीं जानता, अग्नि जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अग्नि का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

जो वायु में रहनेवाला वायु के भीतर है, जिसे वायु नहीं जानता, वायु जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वायु का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

जो आकाश में रहनेवाला आकाश के भीतर है, जिसे आकाश नहीं जानता, आकाश जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आकाश का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

जो समस्त भूतों में स्थित रहनेवाला समस्त भूतों के भीतर है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिसके शरीर हैं और जो भीतर रहकर समस्त भूतों का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूतदर्शन है।

२३. एक में से अनेक

एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात् समुत्थितः ॥
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा ॥
श्रीमद्भागवत २/१०/१३

अर्थ——सर्वदा एक स्वरूप उस देव को अनेक स्वरूप में आने की इच्छा हुई तब योगनिद्रा से उठकर उन्होंने सुवर्ण की तरह अत्यंत प्रकाशमान अपने शरीर को माया से अधिदैव, अध्यात्म तथा अधिभूत इस तरह तीन प्रकार का बनाया।

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता उ। सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानु-

प्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किं च । तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति ।।

तैत्तिरीय २/६

अर्थ––यदि पुरुष 'ब्रह्म असत् है' ऐसा जानता है तो वह स्वयं भी असत् ही हो जाता है । और यदि ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म है' तो ब्रह्मवेत्ता उसे सत् समझते हैं । उस पूर्वकथित विज्ञानमय का यह जो आनन्दमय है शरीर-स्थित आत्मा है । अब शिष्य के ये अनुप्रश्न हैं––क्या कोई अविद्वान् पुरुष भी इस शरीर को छोड़ने के अनन्तर परमात्मा को प्राप्त हो सकता है ? अथवा, कोई विद्वान् भी इस शरीर को छोड़ने के अनन्तर परमात्मा को प्राप्त होता है या नहीं ? (आचार्य का उत्तर–) उस परमात्मा ने कामना की 'मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात् मैं उत्पन्न हो जाऊँ ।' अतः उसने तप किया । उससे तप करके ही यह जो कुछ है उस सब की रचना की । इसे रचकर वह इसी में अनुप्रविष्ट हो गया । इसमें अनुप्रवेश कर वह सत्यस्वरूप परमात्मा मूर्त, अमूर्त कहे जाने योग्य और न कहे जाने योग्य, आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन एवं व्यावहारिक सत्य-असत्यरूप हो गया । यह जो कुछ है उसे ब्रह्मवेत्ता लोग 'सत्य' इस नाम से पुकारते हैं । उसके विषय में ही यह श्लोक है ।

३४. प्राणादि ईश्वराधीन हैं

अनु प्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु ।
अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवानुगाः ।।

श्रीमद्भागवत २/१०/१६

अर्थ––वह (समष्टिगत) मुख्य प्राण चेष्टा करता है तब उसके पीछे सेवकों की तरह सब प्राणियों में प्राण चेष्टा करते हैं और वह मुख्य प्राण चेष्टा का त्याग करता है तब सब जंतुओं के प्राण भी चेष्टा का त्याग करते हैं ।

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानाम् आयुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य यजुरेव शिरः । ऋग्दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः पक्षः । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरस पुच्छं प्रतिष्ठा ।

तैत्तिरीय २/३

अर्थ—देवगण प्राण के अनुगामी होकर प्राणन–क्रिया करते हैं तथा जो मनुष्य और पशु आदि हैं वे भी प्राणन–क्रिया से ही चेष्टावान् होते हैं। प्राण ही प्राणियों की आयु है। इसीलिए वह 'सर्वायुष' कहलाता है। जो प्राण की ब्रह्म रूप से उपासना करते हैं वे पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं। प्राण ही प्राणियों की आयु है। इसलिए वह 'सर्वायुष' कहलाता है। उस पूर्वोक्त अन्नमय कोश का यही देहस्थित आत्मा है। उस इस प्राणमय कोश से दूसरा इसके भीतर रहने वाला आत्मा मनोमय है। उसके द्वारा यह पूर्ण है। वह यह (मनोमय कोश) भी पुरुषाकार ही है। उस (प्राणमय कोश) की पुरुषाकारता के अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है। यजु-ही उसका शिर है, ऋक् दक्षिण पक्ष है, साम उत्तर पक्ष है, आदेश आत्मा है तथा अथर्वाङ्गिरस पुच्छ प्रतिष्ठा है।

३५. विराट् की विभूति और कार्य

मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते ।
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते ॥
विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग् व्याहृतं तयोः ।
जले वै तस्य सुचिरं निरोधः समजायत ॥
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति ।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृणग्रहः ॥
यदाऽऽत्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः ॥
निर्भिन्ने ह्यक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः ॥

श्रीमद्भागवत २/१०/१८-२१

अर्थ––विराट् पुरुष के मुख से तालु और जिह्वा-इन्द्रिय हुई । उसमें अनेक प्रकार के रस उत्पन्न हुए, जो कि जीभ के द्वारा मालूम पड़ते हैं । इसके बाद उस पुरुष ने बोलने की इच्छा की तब उनके मुख से वाक् इन्द्रिय, उसका अधिष्ठाता देवता अग्नि तथा उसका विषय 'बोलना' ये तीन प्रगट हुए । फिर अंडजल में उस पुरुष के प्राणवायु का दीर्घकाल तक निरोध हुआ, फलतः रुद्ध वायु अतिशय चेष्टा करने लगा, अंदर जोर से बहने लगा । तब (उसके आवागमन के लिए नासिका के दो छिद्र बने । इसके बाद गंध विषय को ग्रहण करने की उन्होंने इच्छा की, अतः उस नासिका में गंध को लानेवाला वायुदेव, गंध विषय और घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुए । फिर उस समय अपने शरीर में प्रकाश का अभाव था और अपने शरीर को तथा अन्य वस्तुओं को देखने की उन्हें इच्छा हुई । अतः दो नेत्र हुए और उसमें सूर्यदेव, चक्षु इन्द्रिय तथा उससे ग्रहण होनेवाला रूप-विषय उत्पन्न हुआ ।

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद् वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद् आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद् दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन् औषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन् चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् मृत्युरपानो भूत्वा नाभि प्राविशद् आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ।।

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति । ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भगिन्यौ करोमीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्या मशनायापिपासे भवतः ।।

ऐतरेयोपनिषद् १/२/४-५

अर्थ––अग्नि ने वागिन्द्रिय होकर मुख में प्रवेश किया, वायु ने प्राण होकर नासिका-रन्ध्रों में प्रवेश किया, सूर्य ने चक्षु-इन्द्रिय होकर नेत्रों में प्रवेश किया, दिशाओं ने श्रवणेन्द्रिय होकर कानों में प्रवेश किया, औषधि और वनस्पतियों ने लोम होकर त्वचा में प्रवेश किया, चन्द्रमा ने मन होकर हृदय में प्रवेश किया, मृत्यु ने अपान होकर नाभि में प्रवेश किया तथा जल ने वीर्य होकर लिंग में प्रवेश किया ।

उस (ईश्वर) से क्षुधा-पिपासा ने कहा–'हमारे लिए आश्रय की योजना कीजिए ।' तब (उसने) उनसे कहा–'तुम दोनों को मैं इन देवताओं में ही भाग दूँगा अर्थात् मैं तुम्हें इन्हीं में भागीदार करुँगा ।' अतः जिस किसी देवता के लिए हवि दी जाती है उस देवता की हवि में ये भूख-प्यास भी भागीदार होती ही हैं ।

तृतीयः स्कन्धः

३६. अनिरुद्धः शब्दयोनिः

अपिस्विदास्ते भगवान् सुखं वो
यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः ।
यमामनन्ति स्म ह शब्दयोनिं
मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम् ।।

श्रीमद्भागवत ३/१/३४

अर्थ——जो सेवकों के मनोरथों को पूर्ण करते हैं और जिनको वेद, मन के प्रवर्तक होने से शास्त्रों के कारण तथा चार प्रकार के अन्तःकरण के चतुर्थ तत्त्व के रूप में बताते हैं, वे भगवान अनिरुद्ध कुशल हैं ?

आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान्मनो युंक्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।।

शिक्षा

अर्थ——आत्मा प्रथम बुद्धि से युक्त होकर बोलने की इच्छा से मन को प्रेरित करती है, फिर मन शरीर के अग्नि को प्रेरित करता है, अग्नि वायु को प्रेरित करता है और वायु वक्षःस्थल में घूमते हुए गंभीर स्वर उत्पन्न करता है ।

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे ।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः ।।

यजु. २३/६३

अर्थ——हे जीवात्मन् ! यह प्रसिद्ध है कि वह परमात्मा सबका आदि है, सम्यक्तया होनेवाला अर्थात् अविनाशी ब्रह्म है, वही अपने आप होनेवाला अर्थात् कारण से रहित, प्रतिदेह में प्रवेश करके वासरूप से प्रत्यगात्मस्वरूप अर्थात् अध्यात्मस्वरूप कहा गया है । बड़े विस्तृत संसाररूपी समुद्र में सब पदार्थों के भीतर, प्रत्येक ऋतु के अर्थात् समय के अनुसार भूतों की उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले विसर्ग को धारण करता है । जिस कर्ण से सूर्य आदि प्रजापालक उत्पन्न हुए अर्थात् देवों के उद्देश्य से किया जाने वाला कार्य कर्म संज्ञावाला कहा गया है ।

३७. आनंद से इन्द्रियों का जीवन

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चरलोकपालैः
किरीटकोट्येडितपाद पीठः ॥

श्रीमद्भागवत ३/२/२१

अर्थ——भगवान स्वयं किसी के समान नहीं है, अतुल विशेषताओं वाले हैं, तीनों पुरुषार्थों के, तीनों लोकों के अथवा तीनों गुणों के अधीश्वर हैं । वे परम आनंदस्वरूप संपत्ति से सब भोगों को प्राप्त करनेवाले हैं तथा बलिदान देनेवाले अनेक लोकपाल उनके पादपीठ की स्तुति करते हैं ।

३८. परब्रह्म का सर्जन

सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः ।
आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया ॥
महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत ।
कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः ॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।
अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ॥
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ॥
तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ।
तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥
कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः ।
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम् ॥
अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः ।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥
अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम् ।
आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥

ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद् ब्रह्मवीक्षितम् ।
महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः ।।

श्रीमद्भागवत ३/५/२८-३५

अर्थ––चिदाभासरुपी निमित्त कारण के, गुणरूपी उपादान कारण के तथा विकार उत्पन्न करने वाले काल के आधीन रहनेवाला वह महत्‌तत्त्व सर्व के अध्यक्ष भगवान की दृष्टि का विषय बना । तब इस जगत का सर्जन करने की इच्छा से अपने स्वरूप का रूपान्तर किया । इस प्रकार महतत्त्व विकार को प्राप्त हुआ तब उससे अहंकार उत्पन्न हुआ । वह अहंकार कार्य (अधिभूत), कारण (अध्यात्म) और कर्ता (अधिदैव) रूप है । वह अहंकार पाँच महाभूत, इन्द्रिय, मन तथा इन्द्रिय और मन के देवता–इन सब का कारण है । वह सात्त्विक, राजस् और तामस् इस तरह तीन प्रकार का है । फिर वह अहंकार तत्त्व विकार को प्राप्त हुआ तब सात्त्विक अहंकार से मन उत्पन्न हुआ । इन्द्रियों के अधिष्ठाता ऐसे जिन देवों से शब्दादि विषयों का ज्ञान होता है वे देव भी सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न हुए । ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ राजस् अहंकार से हुई । तामस अहंकार से शब्द हुआ और शब्द से आकाश । यह आकाश अपने गुण शब्द के रूप में परमात्मा का प्रकाशक है । फिर भगवान की दृष्टि का विषय बना हुआ यह आकाश काल, माया तथा चिदंश के योग से विकार को प्राप्त हुआ । इससे उसमें से स्पर्श उत्पन्न हुआ और उसमें विकार उत्पन्न होने से वायु हुआ । फिर वह बलवान् वायु आकाश सहित विकार को प्राप्त हुआ और उसने रूपतंन्मात्रा द्वारा लोकों को प्रकाश देने वाला तेज उत्पन्न किया । परमात्मा की दृष्टि का विषय बने हुए उस तेज ने काल, माया तथा चिदंश के योग से विकार को प्राप्तकर रसतन्मात्रा द्वारा जल उत्पन्न किया । फिर ब्रह्म की दृष्टि का विषय बने हुए तेज सहित उस जल ने काल, माया तथा चिदंश के योग से विकार को प्राप्त होकर गंध गुण के द्वारा पृथ्वी को उत्पन्न किया ।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । योऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः ।

अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

तैत्ति. २/१

अर्थ––ब्रह्मवेत्ता, परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। उसके विषय में यह श्रुति कही गई है–'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है।' जो पुरुष उसे बुद्धि रूप परम आकाश में निहित जानता है: वह सर्वज्ञ ब्रह्म रूप से एक साथ ही संपूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है। इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न एवं रसमय ही है। उसका यह शिर ही शिर है, यह दक्षिण बाहु ही दक्षिण पक्ष है, यह वाम बाहु वाम पक्ष है, यह शरीर का मध्य भाग आत्मा है और यह नीचे का भाग पुच्छ प्रतिष्ठा है। उसके विषय में यह श्लोक है।

३९. सर्व में चैतन्य रूप से ब्रह्म का प्रवेश

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः।
प्रसुप्त लोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः॥
कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्॥
सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन्॥

श्रीमद्भागवत ३/६/१–३

अर्थ– इस प्रकार अपनी शक्तिरूप वे महत्तत्त्व आदि, जोकि एक दूसरे मे लीन नहीं हुए थे और अलग-अलग रहे थे तथा विश्व की रचना करने में असमर्थ थे, उनकी स्थिति देखकर अनंत लीलामय भगवान ने काल से जागृत होनेवाली मायाशक्ति को धारण किया और उन तेईस तत्त्वों के समुदाय में अन्तर्यामी के रूप में एक ही बार में प्रवेश किया। इस प्रकार क्रिया शक्ति से उन तत्वों में प्रवेशकर भगवान ने,

उनमें लीन क्रियाशक्ति को जागृत किया और भिन्न-भिन्न रूप में रहे हुए उन तत्वों को एकत्रित किया।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥

यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

यश्चक्षुषि तिष्ठँश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यं श्रोतं न वेद यस्य श्रोत्रं शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

यस्त्वचि तिष्ठँस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यं रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ता विज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥

बृहदारण्यक ३/७/१५-२३।

अर्थः—जो समस्त भूतों में स्थित रहने वाला समस्त भूतों के भीतर है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिनके शरीर हैं जो

भीतर रहकर समस्त भूतों का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूत दर्शन है। अब अध्यात्म दर्शन कहा जाता है।

जो प्राण में रहने वाला प्राण के भीतर है, जिसे प्राण नहीं जानता, प्राण जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर प्राण का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

जो वाणी में रहने वाला वाणी के भीतर है, जिसे वाणी नहीं जानती, वाणी जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वाणी का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

जो नेत्र में रहने वाला नेत्र के भीतर है, जिसे नेत्र नहीं जानता, नेत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर नेत्र का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

जो श्रोत में रहनेवाला श्रोत के भीतर है, जिसे श्रोत नहीं जानता, श्रोत जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर श्रोत का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

जो मन में रहने वाला मन के भीतर है, जिसे मन नहीं जानता मन जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर मन का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

जो त्वक् में रहने वाला त्वक् के भीतर है, जिसे त्वक् नहीं जानती, त्वक् जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर त्वक् का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

जो विज्ञान में रहने वाला विज्ञान के भीतर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर जो है और भीतर रहकर विज्ञान का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

जो वीर्य में रहने वाला वीर्य के भीतर है, जिसे वीर्य नहीं जानता, वीर्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वीर्य का नियमन करता हें, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। वह दिखाई न देने वाला

वाला किन्तु देखने वाला है, सुनाई न देने वाला किन्तु सुनने वाला है, मनन का विषय न होने वाला किन्तु मनन करने वाला है और विशेषतया ज्ञात न होने वाला किन्तु विशेष रूप से जाननेवाला है यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सब नाशवान् हैं।

४०. चार वर्णों का निर्माण

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह।
यस्तून्मुखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः॥
बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात्॥
विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत्॥
पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः॥
एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम्।
श्रद्धयाऽऽत्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः॥

श्रीमद्भागवत् ३/६/३०-३४

अर्थ:—हे कुरुश्रेष्ठ, उस विराट् पुरुष के मुख से वेदों की उत्पत्ति हुई अतएव ब्राह्मण वर्णों में मुख्य तथा गुरु रूप माने जाते हैं।

सबका पालन-रक्षण करना इस क्षात्रवृत्ति का अनुसरण करने वाले क्षत्रिय उस विराट् पुरुष के बाहु से उत्पन्न हुए। ये विष्णु के अंशरूप हैं, अतः चोर आदि के उपद्रवों से वर्णों की रक्षा करते हैं।

उस समर्थ विराट् पुरुष की जंघाओं से लोगों की आजीविका के कारणरूप खेती-बारी आदि उद्योग उत्पन्न हुए और वैश्य वर्ण भी वहीं से उत्पन्न हुआ यह खेती-बारी रूप अपनी आजीविका से सर्व लोकों की आजीविका सिद्ध करता है।

उस विराट् पुरुष के दो चरणों से धर्म की सिद्धि के लिए सेवावृत्ति उत्पन्न हुई और उस सेवावृत्ति के लिए शूद्र भी विराट के दो चरणों से ही उत्पन्न हुए हैं, जिन शूद्रों की सेवावृत्ति से भगवान प्रसन्न होते हैं।

ये वर्ण चित्तशुद्धि के लिए अपने-अपने धर्म के द्वारा अपने गुरु भगवान श्री हरि का श्रद्धापूर्वक पूजन करते हैं, क्योंकि अपनी-अपनी आजीविका के साथ वे श्रीहरि से उत्पन्न हुए हैं।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरु पादा उच्येते ।।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।

यजुर्वेद ३१/१०,११

अर्थ – जब देवों ने विराट पुरुष को संकल्प द्वारा उत्पन्न किया तब कितने प्रकारों से विविध कल्पना की ? उस पुरुष का मुख कौन-सा था ? बाहु तथा उरु कौन-से थे ? पग कौन-से कहलाये ?

ब्राह्मण इस विराट पुरुष का मुख बना, क्षत्रिय बाहुरूप से निष्पन्न हुआ, उसके उरु से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ।

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ।।

ऋग्वेद ९/९६/५

अर्थ – सब प्राणियों के मनन-शक्त्यात्मक ज्ञान को उत्पन करने वाला द्युलोक को उत्पन्न करने वाला, भूमि का उत्पादक, अग्नि को उत्पन्न करने वाला, सूर्य का जन्मदाता, पृथिव्यादि संघात के साथ सबके आत्माओं अर्थात् प्राणिमात्र को अपने-अपने कर्मानुसार जन्म देने वाला, और यज्ञों का उत्पादक अथवा अपनी व्यापकता का उत्पादक अतः अपनी सर्वव्यापकता को स्वयं प्रकट करने वाला परमात्मा अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मानुसार पूजने वाले मनुष्यों को पवित्र कर देता है अर्थात् उन्हें मुक्ति पद देता है।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे ।
राजन्यः शूर इषव्योतिव्याधी महारथो जायताम्.... ।।

यजुर्वेद २२/२२

अर्थ – हे परमात्मन् ! हमारे देश में ब्राह्मण वर्ण वेदवेत्ता, वेदवक्ता तथा ब्रह्मचर्य से तेजस्वी उत्पन्न होवे । क्षत्रिय निर्भय और शौर्य युक्त, व्याधियों से दूर रहने वाला अर्थात् स्वास्थ्ययुक्त अथवा शत्रुओं को व्याधिरूप प्रतीत होने वाला, बाण चलाने में अति निपुण अर्थात बाण द्वारा लक्ष्य का वेध करने वाला और महारथी होकर सेनाओं को चलाने वाला उत्पन्न हो ।

४१. तप से सर्जन की स्थिरता

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यांचैव मदाश्रयाम् ।
ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान्द्रक्ष्यस्यपावृतान् ।।
तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः ।
दृष्टासि मां ततं ब्रह्मन् मयि लोकांस्त्वमात्मनः ।।

श्रीमद्भागवत ३/९/३०,३१

अर्थ – हे ब्रह्मन् ! आप कुछ और तपस्या एवं मेरे आश्रय वाली उपासना करें, जिससे कि आप लोकों को अपने हृदय में प्रकट रूप में देख सकेंगे ।

इसके बाद भक्तियुक्त तथा समाधिनिष्ठ बने हुए आप अपने अंदर तथा लोकों में मुझे व्याप्त देखेंगे और लोकों तथा जीवों को मेरे अंदर रहे हुए देखेंगे ।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।।

ऋग्वेद १०/१९०/१

अर्थ – तेजोमय तप के द्वारा यज्ञ और सत्य की उत्पत्ति हुई । फिर दिवस और रात्रि उत्पन्न हुए । इसके पश्चात् जल से परिपूर्ण समुद्र उत्पन्न हुआ ।

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव ।
सा नो मेखले मतिमाधेह मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियञ्च ॥
अथर्ववेद ६/१३३/४

अर्थ – श्रुतिस्मृत्यादि प्रोक्त शुभ कर्मों में आस्तिक बुद्धि रखने का नाम श्रद्धा है। उस श्रद्धा अर्थात् विश्वास की पुत्री सात्त्विक तपश्चर्या है और वही सात्त्विक तपश्चर्या आदि सृष्टि में ब्रह्मा के तप से उत्पन्न हुई है अथवा अत्यन्त श्रेष्ठ श्रद्धा के कारण तप से उत्पन्न हुई है। पञ्च महाभूतों और उनके रूप रसादि विषयों को वश में करने वाले और धर्म को साक्षात् करने वाले मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की, साथ उत्पन्न होने से भगिनी रूप है। हे मेखले ! तपश्चर्या में मन, वाणी और शरीर को एक रूप में बाँधने वाली रज्जुरूप मति ! चित्त को एकाग्र करने वाली रस्सीरूप वह तू हमारी आगे आने वाली बुद्धि को सात्त्विक तपश्चर्या वाली कर, और सात्त्विक गुण की विशेषता वाले कायिक, वाचिक, मानसिक तप को और हमारी इन्द्रियों के लिंग अर्थात् चिह्नरूप आत्मा को सत्त्व स्वरूप कर दे, और हमारी बुद्धि को वेद शास्त्र के पढ़ने-सुनने मात्र से धारणा शक्ति वाली कर दे।

४२. देव वर्ष–मानव वर्ष

अयने चाहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः ।
संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम् ॥
श्रीमद्भागवत ३/११/१२

अर्थ – छः महिनों का एक अयन, जो दक्षिणायन तथा उत्तरायन इन नामों से वर्ष में दो प्रकार का है, उन्हें देवों का रात-दिन कहते हैं। मनुष्यों का वर्ष दो अयन का कहलाता है और उनकी अधिकतम आयु १०० वर्ष की बतलाई जाती है।

एकं वा एतद् देवानामहर्यत्संवत्सरः ।
दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभाग स्तयोः पुनः
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥
मनु. १/६७

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनाहतस्यादिद्धृतेन पृथिवी व्युद्यते ।।

ऋग्वेद १/१६४/४७

अर्थ – कृष्ण पक्ष, रात्रि, धूममय कर्म, दिन को छोटा करने वाले दक्षिणायन के छह महीने इत्यादि में वास करते हुए प्राणी और इष्टापूर्तादि कर्मों में पड़े हुए कर्मयोगी, द्युलोक में रहने वाली चन्द्रमा संबंधी ज्योति को चढ़ जाते हैं । वे कर्मयोगी कर्मफल के स्थान चन्द्रमण्डल से नीचे संसार में लौट आते हैं । इसके अनंतर ही कर्मयोगियों के कर्ममय जल से पृथिवी लोक में उत्पन्न हुआ शरीर विविध प्रकार गीला होता है अर्थात् जन्म-मरण रूपी जल से सींचा जाता है ।

तुलना करें–

छान्दोग्य उपनिषद् ५-१०-३-५

४३ अज्ञानवृत्ति--अविद्या

ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत् ।
महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः ।।

श्रीमद्भागवत ३/१२/२

अर्थ – ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि में सर्वप्रथम तमस, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र–ये पाँच अविद्या की वृत्तियाँ उत्पन्न की ।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।
अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

योग सूत्र २/३,४,५

४४. आन्वीक्षिकी का स्वरूप

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च ।
एवं व्याहृतयश्चासन् प्रणवो ह्यस्य दहृतः । ।

श्रीमद्भागवत ३/१२/४४

अर्थ – ब्रह्मदेव के पूर्व मुख से मोक्षविद्या, दक्षिण मुख से धर्मविद्या, पश्चिम मुख से कामविद्या तथा उत्तर मुख से अर्थविद्या उत्पन्न हुई । भूः, भुवः, स्वः और महः ये चार व्याहृतियाँ भी ब्रह्मदेव के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर मुख से उत्पन्न हुई । ॐकार ब्रह्मा के हृदयाकाश से उत्पन्न हुआ ।

४५. वेद अपौरुषेय हैं

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान्वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः ।
शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चितं व्यधात्क्रमात् ।।
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः ।
स्थापत्यं चासृजद् वेदं क्रमात् पूर्वादिभिर्मुखैः ।।

श्रीमद्भागवत ३/१२/३७,३८

अर्थ – ब्रह्मा ने ऋग्वेद को पूर्व-मुख से, यजुर्वेद को दक्षिण-मुख से, सामवेद को पश्चिम-मुख से तथा अथर्ववेद को उत्तर-मुख से उत्पन्न किया । शस्त्रकर्म, इज्याकर्म, स्तुतिस्तोम एवं प्रायश्चित्त को भी इसी क्रम से उत्पन्न किया ।

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा विश्वकर्मा के स्थापत्यवेद-शिलपशास्त्र को भी ब्रह्मा ने अपने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर की ओर के मुख से क्रमशः उत्पन्न किया ।

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते ।।

१२/६/३७

अर्थ – समाधि लगाकर भगवान का ध्यान करते हुए ब्रह्माजी के हृदयाकाश से प्रथम नाद उत्पन्न हुआ। कान बंद कर बाह्य वृत्तियों से विरत होने पर नाद का अनुभव किया जा सकता है।

क्षीणायुषः क्षीणसत्त्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्य कालतः।
वेदान् ब्रह्मर्षयो व्यस्यन् हृदिस्थाच्युतचोदिताः॥
१२/६/४७

अर्थ – हृदय में निवास करने वाले श्रीहरि की प्रेरणा से उन ब्रह्मर्षियों ने कालयोग से प्रतिदिन मनुष्यों को क्षीण आयु वाले, बलहीन तथा बुद्धिहीन होते देखकर वेदों के विभाग किये।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
यजुर्वेद ३१/७

अर्थ – उस सर्वहुत यज्ञपुरुष से ऋचाएँ तथा साम उत्पन्न हुए, गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए तथा यजुः भी उत्पन्न हुआ।

४६. ब्रह्मा का पुत्री के पीछे दौड़ना

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम्॥
तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात्प्रत्यबोधयन्॥
नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चापरे।
यत्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः॥
तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो।
यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते॥
श्रीमद्भागवत ३/१२/२८-३१

अर्थ – ब्रह्मा ने अपनी मनोहारिणी सुन्दर पुत्री सरस्वती की, उसकी अनिच्छा रहने पर की, कामातुर बनकर कामना की थी, ऐसा कहा जाता

है। इस प्रकार अधर्म में बुद्धि लगाने वाले पिता को देखकर मरीचि आदि मुनियों ने, 'वे हमारा कहना मानेंगे' इस विश्वास से उन्हें इस प्रकार समझाया–'आप समर्थ हैं, फिर भी काम को वश में न करते हुए पुत्री में विषय वासना से गमन करें, यह निंदनीय है । ऐसा कर्म आपके पूर्व होने वालों ने कभी किया न था और अन्य कोई न करेगा । तेजस्वी पुरुषों को भी यह कर्म सत्कीर्ति देने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि यह लोक उनके चरित्र का अनुसरण करने से ही कल्याण को प्राप्त करने में समर्थ बनता है ।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ।।

ऋग्वेद १/१६४/३३ अथर्व ९/१०/१२

अर्थ – यह परमात्मा सूर्य की तरह प्रकाशित है । वह हमारा पिता, जनक, बन्धु और केन्द्र है । यह पृथ्वी हमारी माता है । यह पिता इस पुत्री रूपी पृथ्वी में गर्भ का आधान करते हैं, जिससे सर्व सृष्टि उत्पन्न हुई है । ये दोनों प्रकृति और पुरुष सब का उत्पत्ति-स्थान है ।

४७. यज्ञ की उत्पत्ति

इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः ।
भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्जागेन्द्रसन्निभः ।।

श्रीमद्भागवत ३,१३/२३

अर्थ – ब्रह्मा अपन पुत्रों के साथ इस प्रकार विचार कर रहे थे उस समय महान् पर्वत के समान उस यज्ञ-पुरुष भगवान ने गर्जना की ।

सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ।।

श्रीमद्भगवदगीता ३/१०

यज्ञो नाम प्रकृतेरनुकूलत्वं सगतीकरणं दानं च ।

अर्थ – सृष्टि-रचना के आदि में प्रजापति ने यज्ञ के साथ-साथ प्रजाओं का भी सृजन किया और यह आज्ञा दी कि तुम लोग इस यज्ञ से अपनी सब प्रकार की वृद्धि करो । यही यज्ञ तुम लोगों को मनोवाञ्छित भोगों का देने वाला होवे ।

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ।।
अथर्ववेद ७/५/२

अर्थ – सृष्टि के आदि में यज्ञ प्रकट हुआ । वह सर्वत्र व्याप्त हो गया । वह विशेष प्रकार से प्रजा के लिए ज्ञान का साधन हुआ । फिर वह यज्ञ वृद्धि को प्राप्त हुआ और विद्वानों तथा ज्ञानी पुरुषों का अभीष्ट फल देने वाला बन गया । वही हममें ज्ञानात्मक धन को धारण करावे ।

४८. स्त्री पुरुष का अर्द्धाङ्ग

यामाहुरात्मनो ह्यर्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि ।
यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः ।।
श्रीमद्भागवत ३/१४/१८

अर्थ – हे मानिनी, विद्वान लोग स्त्री को कल्याण की इच्छा रखने वाले पुरुष का 'आधा अंग' कहते हैं । उसके ऊपर अपने घर का भार रखकर पुरुष निश्चिन्त होकर घूम सकता है ।

अर्धो वा एष आत्मनः यः पत्नीति श्रुतेः ।

(विशेष के लिए देखिए– अथर्ववेद १४/१/२२)

४९. कालचक्र-रूपक

न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां
त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व ।
षण्नेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि
करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत् ।।
श्रीमद्भागवत ३/२१/१८

अर्थ – यह कालचक्र परब्रह्म रूप अक्ष पर घूमने वाला, पुरुषोत्तम मास सहित तेरह मासरूप अराओं वाला, तीन सौ साठ दिनों रूप पर्व वाला छः ऋतुओं रूप नेमीवाला क्षण-लव आदि रूप अनन्त धाराओं वाला, तीन चातुर्मासरूप नाभिवाला तथा तीव्र वेगवाला है। इसीलिए संपूर्ण जगत को खींचता हुआ यह दौड़ रहा है।

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥

श्वेताश्वतर १/४

अर्थ – उस एक नेमि, तीन वृत, सोलह अन्त, पचास अरों, बीस प्रत्यरों, छः अष्टकों, विश्वरूप एक पाश, तीन मार्गों तथा (पाप-पुण्य) दोनों के निमित्तभूत एक मोहवाले कारण को हम जानते हैं।

५० राजा का पूजन-अर्हण

अथोटजमुपायातं नृदेवं प्रणतं पुरः ।
सपर्यया पर्यगृह्णात् प्रतिनन्द्यानुरूपया ॥

श्रीमद्भागवत ३/२१/४८

अर्थ – जब कर्दम ऋषि ने महाराज मनु को पर्णकुटी में प्रवेश कर प्रणाम करते हुए देखा तब आशीर्वाद के द्वारा उनका अभिनंदन कर योग्य पूजा-विधि से सत्कार किया।

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव प्रत्तीनजयत्पुरोहितः ।
नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥

अथर्ववेद ७/६४/१

अर्थ – यह अग्नि जैसा तेजस्वी पुरुष सज्जनों का पालक, महाबलवान, सब का अग्रेसर और, महारथी जिस प्रकार पैदल योद्धा को जीतता है, है, उसी प्रकार सब को जीतने वाला है। भूमि के केन्द्र स्थान में आरूढ होकर प्रकाशित बनता है तथा सेना के साथ आक्रमण करने वालों को पैरों से कुचलता है।

षडर्घ्या भवन्त्याचार्यऋत्विग्वैवाह्यः प्रियः स्तानक इति ।

५१. इच्छानुसार चलने वाले विमानों की रचना

प्रियायाः प्रियमन्विच्छन् कर्दमो योगमास्थितः ।
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत् ।।

श्रीमद्भागवत ३/२३/२१

अर्थ – प्रिया देवहूति का प्रिय करने की इच्छा वाले कर्दम ऋषि ने उसी समय योगबल के आधार से अपनी इच्छा के अनुसार सर्वत्र विचरण करने वाला विमान बनाया ।

सूत्र: शक्त्यद्गमाद्यष्टौ ।

अंशुबोधिनी-भारद्वाज

विमान के आठ प्रकार निम्नलिखित हैं –

(१) शक्त्युद्गम – बिजली से चलने वाला ।
(२) भूतवाह: – अग्नि, जल एवं वायु से चलने वाला ।
(३) धूमयान – भाप से चलने वाला ।
(४) शिखोद्गम – पेट्रोल से चलने वाला ।
(५) अंशुवाह – सूर्य-किरणों से चलने वाला ।
(६) तारामुख – लौहचुम्बक से चलने वाला ।
(७) मणिवाह – चन्द्रकान्त मणि से चलने वाला ।
(८) मरुत्सखा – वायु से चलने वाला ।

समुद्रं गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा ।

यजुर्वेद ६/२१

अर्थ – तुम बड़े-बड़े जहाज बनाने की विद्या से नौकादि यान द्वारा समुद्र के पार जाओ । खगोल को प्रकाशित करने वाली विद्या से सिद्ध हवाई जहाजों के द्वारा आकाश में जाओ ।

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
तेषामज्यानि यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ।।

अथर्व. ६/५५/१

अर्थ – देवों के आवागमन के अनेक मार्ग द्युलोक तथा भूलोक के बीच में हैं, उनमें से जो मार्ग समृद्धि लाने वाले हो उस मार्ग के लिए, हे देवो ! तुम मुझे धारण करो ।

५२. फलेच्छारहित भक्ति

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ।।

श्रीमद्भागवत ३/२५/३३

अर्थ – सब इन्द्रियाँ स्वाभाविक रूप से श्रीहरि में लीन रहती हैं उसे ही निष्काम भक्ति कहते हैं । यह भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ है । जिस प्रकार जठराग्नि खाये हुए अन्न को पचा लेती है उसी प्रकार यह भक्ति लिंग शरीर का तत्काल नाश करती है ।

तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः :
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः ।।

यजुर्वेद १५/५०

अर्थ – हे देव, शुभकर्मों के फलस्वरूप देदीप्यमान रविमंडलरूप तृतीय लोक में दुःखहीन सुख स्थान को ग्रहण करने वाले हम लोग स्त्रियों, पुत्रों, भाइयों तथा सुवर्णादि द्रव्य के साथ उस परम पिता का सेवन करते हैं ।

विशेष के लिए देखिए–

ऋग्वेद १०/१६६/५

५३. भक्ति से मृत्यु-विजय

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् ।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरति पारये ।।

श्रीमद्भागवत ३/२५/४०

अर्थ – जो लोग शरीर, पुत्र, स्त्री, धन आदि सर्व परिग्रह को छोड़कर सर्वव्यापक मुझे अकेले को ही अनन्य भक्ति से भजते हैं उनका मैं मृत्यु रूप संसार से उद्धार करता हूँ ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा : ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

यजुर्वेद ४०/२

अर्थ – इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करें। इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले तेरे लिए इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे (अशुभ) कर्म का लेप न हो ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्त मनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ।।

अथर्व. ३/८/६

अर्थ – हे भक्तजनो ! मैं परमात्मा तुम मत्पर और मद्भक्तों की मनन शक्तियों को अपने मनके साथ ग्रहण करता हूँ अर्थात् तुम्हारे मन मेरी भक्ति में लग जावें। हे भक्तजनो ! तुम अपनी चेतन शक्ति के साथ विराट स्वरूप को खड़ा करने की चेतना शक्ति को चारों ओर प्राप्त हो जाओ अर्थात् विश्व को मेरा चेतन रूप समझो और विश्व की सेवा करना मेरी सेवा, उस विश्वरूप सेवा द्वारा मुक्ति धाम को प्राप्त हो जाओगे। अतएव तुम्हारे हृदयों अर्थात् हार्दिक भावों को अपने वश में करता हूँ अर्थात् तुम भक्तों के हार्दिक विचार भी मुझ परमात्मा में लगे रहें, दूसरों से वैरता को न प्राप्त हों। भिन्न वस्तु से प्राणी भय करता है। जब हृदय के विचार विराट रूप के विचार हो जाएँगे, एकत्व ज्ञान से भय न रहेगा तब मनुष्य 'सत्कर्मकृत्' हो जाएँगे। अत: तुम भक्तजन मेरे चले हुए मार्ग का अनुसरण करते हुए, मेरे धाम को अर्थात् मुझे प्राप्त होओ ।

५४. ईश्वर के भय से संसार का नियमन

मद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ।।

श्रीमद्भागवत ३/२५/४२

अर्थ – मेरे भय से यह पवन बहता है, सूर्य तपता है, इन्द्र वृष्टि करता है, अग्नि जलता है और मेरे ही भय से मृत्यु, सर्वत्र घूमता है ।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।

कठोपनिषद् २/३/३

अर्थ – ईश्वर के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है तथा इसी के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है ।

प्रभु के ज्येष्ठत्व के वेदप्रतिपादित ३ लक्षण ।

(१) यत उग्रः त्वेष-नृम्ण-जशे । अथर्व. ५/२/१
जिससे उग्र तेज प्राप्त होता है और इससे मानव की ओजस्विता बढ़ती है ।

(२) सद्य-जज्ञान-शत्रून् निरिणाति ।
इस उग्रतेज की उत्पत्ति मात्र से शत्रुओं का नाश होता है ।

(३) विश्वे ऊमा-एनम् अनुमदन्ति ।
जिस तेज को अनुकूल रहने पर भय नष्ट होता है सब संरक्षक बनते हैं ।

अतः तत् भुवनेषु ज्येष्ठ आस ।
इससे ईश्वर भुवन ज्येष्ठश्रेष्ठ है ।

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ नृचक्षः ।
आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ।।

अथर्व. ४/१६/७

अर्थ – हे प्रभो ! तुम दुष्टों को सैकड़ों पाशों से बाँध देते हो । असत्यवादी तुम्हारे पाशों से छूट नहीं सकते । जो दुष्ट मनुष्य अपने पेट के लिए अन्य को सताता है उनके पेट का तुम नाश करते हो और अंत में उसका भी नाश करते हो ।

५५. कार्य प्रकृति का और फल जीवको भोगना पड़ता है

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ।।

श्रीमद्भागवत ३/२६/८

अर्थ – पुरुष शरीरभाव को, इन्द्रियभाव को तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता उन-उन देवताभाव को प्राप्त होता है उस सब का कारण केवल प्रकृति ही है। सुख-दु:खादि के भोक्तापन में प्रकृति से पर पुरुष ही कारण है। (यद्यपि कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अहंकार में ही शक्य है किन्तु अहंकार रूप विकार जड़ होने से उसमें मालूम पड़ने वाला कर्तृत्व आदि पुरुष के कारण ही है।)

यस्मिन् वृक्षे सुपलाश देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥

ऋग्वेद १०/१३५/१

अर्थ – जिस इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, सामग्रीरूपी पत्तोंवाले शरीर अथवा संसार में जीवात्मा चक्षु आदि इन्द्रियों से सुख-दु:खादि विषयों को भोगता है, इस देह में अथवा ब्रह्मांड में वास करने वाले हम जीवात्माओं को अनुकूल मार्ग पर चलाता है।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नालीरथं गीर्भिः परिष्कृतः ॥

ऋग्वेद १०/१३५/७

अर्थ – यह क्षत यानी शरीर जीवात्मा का घर है, जो देह अथवा ब्रह्मांड ज्योतिस्वरूप परमात्मा का मापस्थान, ज्ञानस्थान कहा जाता है। परमात्मा सर्वव्याप है अतः इसी देह में परमात्मज्ञान परिपूर्णतया प्राप्त हो सकता है। यह जीवात्मा इस देह में ज्ञानेंद्रियों और कर्मेन्द्रियों के शान्त होने पर भी वाणी से परिष्कृत अर्थात् स्पष्ट रूप से देह में विद्यमान प्रतीत होता है। जब वाणी भी कुछ कहने में असमर्थ हो जाती है तब इस जीवात्मा के देह में यह प्राणनाडी फूंकती रहती है। प्राण नाडी बताती है कि इस देह में जीवात्मा विद्यमान है। जब नाड़ी भी बन्द हो जाती है तब जीवात्मा देह में वास नहीं करता, अतः प्रतीत होता है कि प्रकृति का कार्य देह है और उसमें जीवात्मा सुख-दु:ख का भोक्ता है।

५६. कर्मफल से ईश्वर की अलिप्तता

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ।।

श्रीमद्भागवत ३/२७/२४

अर्थ – भोगों का उपभोग कर जिसका त्याग किया गया है और जिसके दोषों का ही नित्य दर्शन हुआ है ऐसी प्रकृति स्वतंत्र एवं परमानंदस्वरूप अपनी महिमा में स्थित पुरुष का अशुभ नहीं कर सकती ।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।।

श्वेताश्वतर ४/५

अर्थ – अपने अनुरूप बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करने वाली एक लोहित, शुक्ल और कृष्णवर्णा अजा (बकरी-प्रकृति) को एक अज (बकरा-जीव) सेवन करता हुआ भोगता है और दूसरा अज उस भुक्तभोगा को त्याग देता है ।

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वर सदृनसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ।।

यजुर्वेद १०/२४

अर्थ – वह आत्मा हंस है, अर्थात् 'हन्' धातु के गत्यर्थक होने से 'सर्वदा सर्वत्र गन्ता' यानी सब प्राणियों के हृदय में चिद्रूप है या 'संहन्ति सर्वान् पदार्थान्'–देहस्थ सब पदार्थों को अपने-अपने विषय में मिलाने वाला है, अतः उपद्रष्टारूप है । बुद्धि-अहंकारादि शुद्ध वस्तुओं में रहने वाला अर्थात् बुद्धवादियों की प्रवृत्ति-निवृत्ति से कर्मजन्य फलों का अनुमन्ता है । सबको बसाने वाला या सबका वासस्थान है । हृदयाकाश में रहने से सर्वान्तिर्यामी है । सब पदार्थों में तत्तत्पदार्थों की शक्ति का दाता या सारे जगत् को अपने में बुलाने वाला या अपने में हवन करने वाला है । तिथि से रहित अर्थात् अजन्मा या अतिथिवत् पूज्य है । घर-घर अर्थात् प्रत्येक

पिंड में रहने वाला है। मनुष्य मात्र में चैतन्य रूप से रहता है। वरने योग्य अर्थात् पूज्य, सब श्रेष्ठ विभूतियों में रहने वाला है। प्रकृत्यादि पदार्थों में वास करने वाला है। आकाश के समान सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं में भी वास करता है। जल का उत्पादक है पृथिव्यादियों का उत्पादक है। सत्योत्पादक होने से सत्यस्वरूप है। मेघ, पर्वत, वृक्षादिकों का उत्पादक या आदर से प्रकट होने वाला है। सत्यरूप और सब से बड़ा है। अतः परमात्मा देहादि संघात से भिन्न है।

५७. पुरुष प्रकृति-गुण से पर है।

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥

श्रीमद्भागवत ३/२७/१

अर्थ—जल में प्रतिबिंबित सूर्य जल के आर्द्रता आदि गुणों से अलिप्त रहता है उसी प्रकार जीवात्मा प्रकृति के भीतर अर्थात् प्रकृति के कार्य-रूप देव, मनुष्य आदि शरीर में रहा हुआ है, फिर भी वास्तव में स्वयं निर्गुण, अकर्ता तथा राग-द्वेषादि विकारों से रहित होने से प्रकृति के सत्त्वादि गुणों से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखादि अथवा पुण्य-पापादि से अलिप्त रहता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

गीता १३/२२

अर्थ——इस देह में रहने वाला पुरुष (आत्मा-परमात्मा) देह-इंद्रियाँ आदि से भिन्न है। वह साक्षिभाव से देखने वाला तथा बुद्धि आदि की प्रवृत्ति, निवृत्ति और उनके फल का ज्ञाता और सम्मत्ति दाता है। वह महदादि विकारों का भर्ता है, जीवरूप से कर्मफल का भोक्ता है और अव्यक्तादि से भी महान् है। वह देहादि से भिन्न परमात्मा ही है।

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ।।
कठ २/२/२, यजुर्वेद १०/२४

अर्थ– वह आत्मा हंस (सर्वदा सर्वत्र गन्ता) है, बुद्धि अहंकार आदि में रहने वाला, सबका वासस्थान, अन्तर्यामी, होता (पदार्थों में शक्ति भरने वाला), अतिथि (अजन्मा), प्रत्येक पिंड में रहने वाला, मनुष्य मात्र में चैतन्यरूप, पूज्य, प्रकृति आदि में निवास करनेवाला आकाश के समान सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु में रहने वाला, जल को उत्पन्न करने वाला पृथ्वी आदि का उत्पादक सत्यस्वरूप, मेघ-पर्वत-वृक्ष आदि का उत्पादक तथा सबसे महान् है । वह देहादि संघात से भिन्न है ।

५८. शरीर की रचना

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ।।
कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम् ।।
मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः ।
नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ।।
चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः ।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ।।
मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते ।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसंभवे ।।
श्रीमद्भागवत ३/३१/१-५

अर्थ– ईश्वर द्वारा प्रेरित कर्म के कारण जीव शरीर धारण के लिए पुरुष के वीर्यकण के द्वारा स्त्री के उदर में प्रवेश करता है । वहाँ एक रात में पुरुष का वीर्य एवं स्त्री का रुधिर दोनों मिलते हैं । पाँच रात में बुद्बुद का सा और दस दिनों में बदरीफल का-सा आकार बनता है । उसके बाद माँस-पेशी का आकार बनता है । यदि पक्षी-योनि

में हो तो अंडाकार बनता है । एक मास में मस्तक, दो मास में हाथ-पग आदि अवयव, तीन मास में नख, रोम, हड्डियाँ, चमड़ी, पुरुष अथवा स्त्री का चिह्न एवं इन्द्रियों के चिह्न उत्पन्न होते हैं। चार मास में शरीर की सप्त धातु बनती हैं। पाँच मास में भूख प्यास लगती है और छ मास में जरायु से लिपटकर माता की दक्षिण कुक्षी में स्पन्दन करता है । माता के द्वारा द्वारा खाये हुए अन्न-पान आदि से उस जीव की धातुओं की वृद्धि होती है और असंख्य जीव-जन्तुओं से व्याप्त विष्ठा तथा मूत्र की गर्ता में वह सोता रहता है ।

ओम् पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं
षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम् ।
तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं
चतुर्विधाहारमयं शरीरम् ॥

भवति पञ्चात्मकमिति कस्मात् ? पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमित्यस्मिन्पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी का आपः किं तेजः को वायुः किमाकाशमित्यस्मिन्पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत्कठिनं सा पृथिवी यद्द्रवं ता आपः यदुष्णं तत्तेजः यत्संचरति स वायुः यत्सुषिरं तदाकाशमित्युच्यते । तत्र पृथिवी धारणे आपः पिण्डीकरणे तेजः प्रकाशने वायुर्व्यूहने आकाशमवकाशप्रदाने । पृथक् श्रोत्रे शब्दोपलब्धौ त्वक् स्पर्शे चक्षुषी रूपे जिह्वा रसने नासिका घ्राणे उपस्थ आनन्दने अपानमुत्सर्गे बुद्ध्या बुद्धयति मनसा संकल्पयति वाचा वदति । षडाश्रयमिति कस्मात् ? मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायरसान् विन्दतीति । षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चम धैवतनिषादाश्चेतीष्टानिष्टशब्द संज्ञाः प्रणिधानाद्दशविधा भवन्ति ।

शुक्लो रक्तः कृष्णो धूम्रः पीतः कपिलः पाण्डर इति । सप्तधातुकमिति कस्मात् यदा देवदत्तस्य द्रव्यादिविषया जायन्ते । परस्परं सौम्यगुणात् षड्विधो रसो रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मांसान्मेदो मेदसः स्नायवः स्नायुभ्योऽस्थीनि अस्थिभ्यो मज्जा मज्जातः शुक्रं शुक्रशोणितसंयोगादावर्तते गर्भो हृदि व्यवस्थां नयति हृदयेऽन्तराग्निः अग्निस्थाने पित्तं पित्तस्थाने वायुः वायुतो हृदयं प्राजापत्यात्क्रमात् । गर्भोपनिषत् १।२।

५९. पृथ्वी गोल है

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया ।
बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत ।।

श्रीमद्भागवत ३/२३/४३

अर्थ– इस प्रकार महायोगी कर्दम द्वीप, खंड आदि की रचना से अत्यन्त आश्चर्यजनक समस्त भूमण्डल अपनी पत्नी को बताकर पुनः अपने आश्रम को लौटे ।

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ।।

यजुर्वेद ३/६

अर्थ– यह प्रत्यक्ष गौरूप पृथिवी पालन करने वाले सूर्यलोक के आगे-आगे चलती है, जल के साथ अच्छी तरह चलती है, और अन्तरिक्ष में चारों ओर घूमती है ।

६०. विष्णु अधियज्ञस्वरूप है

यस्तयोः पुरुषः साक्षाद् विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक् ।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी ।।

श्रीमद्भागवत ४/१/४

अर्थ– महर्षि रुचि के द्वारा आकूति से उत्पन्न युगल में जो पुरुष था वह यज्ञ स्वरूप धारण करने वाले साक्षात् विष्णु भगवान थे और जो स्त्री थी वह लक्ष्मीदेवी की अंशरूप और यज्ञनारायण से कभी वियुक्त न होने वाली दक्षिणा थी ।

यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः । श. ब्रा.
पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ।।

अथर्ववेद ११/५/२२

अर्थ– परमात्मा से उत्पन्न किए हुए देव-मनुष्य आदि सब पदार्थ या ब्रह्मा से उत्पन्न किए हुए सब सूर्य-चन्द्रादि पदार्थ विनाशशाली अपने-अपने देहों में भिन्न-भिन्न परमात्मसत्ता को या भिन्न-भिन्न अधिदैवत को धारण करते हैं। 'अधियज्ञ' क्या है ? इसका उत्तर मंत्र द्वारा ही दिया जाता है–ज्ञानी पुरुष में धारण किया हुआ परमात्मा उन सब पदार्थों की अधि-यज्ञ स्वरूप से रक्षा करता है।

६१. यज्ञ-दक्षिणा

यस्तयोः पुरुषः साक्षाद् विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक् ।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी ।।

श्रीमद्भागवत ४/१/४

अर्थ – प्रजापति रुचि और आकूति से जो युगल उत्पन्न हुआ उसमें जो पुरुष था वह यज्ञस्वरूप धारण करने वाले साक्षात् विष्णु भगवान थे और स्त्री लक्ष्मी देवी की अंशभूत तथा यज्ञ भगवान से कभी नियुक्त न होने वाली दक्षिणा थी।

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः ।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः ।।

ऋग्वेद १/१२५/६

अर्थ – ये सुन्दर-सुन्दर समृद्धियाँ दक्षिणा देने वालों के लिए ही हैं। दक्षिणा देने वालों के लिए द्युलोक में सूर्य है। दक्षिणा देने वाले अमर होते हैं। दक्षिणावाले ही अपनी आयु बढ़ाते हैं।

दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति ।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय ।।

ऋग्वेद १०/१०७/५

अर्थ – दानशील व्यक्ति ही गाँव में प्रमुख व्यक्ति होता है। उसे प्रत्येक शुभ कर्म में प्रथम आमन्त्रित किया जाता है। जो लोग सर्वप्रथम दक्षिणा आदि प्रदान करते हैं उन्हें मैं राजा के समान श्रद्धा के योग्य समझता हूँ।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।

यजु. १९/३०

अर्थ – व्रत से दीक्षा प्राप्त होती है, दीक्षा से दक्षिणा प्राप्त होती है, दक्षिणा से श्रद्धा प्राप्त होती है और श्रद्धा से सत्य-ज्ञान-अनन्त ब्रह्म प्राप्त होता है ।

६२. स्तब्ध

अयं तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः ।
सद्भिराचरितः पन्था येन स्तब्धेन दूषितः ।।

श्रीमद्भागवत ४/२/१०

अर्थ – यह महादेव लोकपालों के यश को नष्ट करने वाला एवं निर्लज्ज है, क्योंकि उचित आचरण न करने वाले इस (स्तब्ध) ने सत्पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग को दूषित किया है ।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं व्याप्तं
पूर्णेन सर्वमिति श्रुतेः ।

६३. वाजपेय के बाद ही बृहस्पति-सव होता है

इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च ।
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम् ।।

श्रीमद्भागवत ४/३/३

अर्थ – दक्ष ने (महादेव जैसे) ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों का अपमान कर प्रथम वाजपेय यज्ञ किया और उसके बाद 'बृहस्पति-सव' नामक उत्तम यज्ञ का प्रारंभ किया ।

वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेतेति श्रुतेः ।

६४. यज्ञोच्छिष्ट रुद्रभाग

एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै ।
यज्ञस्ते रुद्र भागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ।।

श्रीमद्भागवत ४/६/५३

अर्थ – दक्ष-यज्ञ को नष्ट करने वाले हे रुद्रदेव, प्रत्येक यज्ञ में जो कुछ बाकी रहेगा वह आपका हिस्सा माना जाएगा। आपके उस रुद्र-भाग से आज यह अपूर्ण यज्ञ पूर्ण हो ।

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्त्राम्बिकया तं जुषस्व ।
स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः ।।

यजु. ३/५७

अर्थ – हे रुद्र, यह तुम्हारा हिस्सा है। भगिनी अंबिका के साथ तुम उसका सेवन करो। हे रुद्र, यह तुम्हारा पुरोडाश है। तुम्हारे लिए यह पशु सर्मपित है।

६५. मित्र की आँख से देखें

प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः ।
मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः ।।

श्रीमद्भागवत ४/७/३

अर्थ – (महादेव कहते हैं)–प्रजापति दक्ष का मस्तक जल गया है, अतः उसे बकरे का मस्तक प्राप्त हो और भगदेव अपने यज्ञभाग को मित्र-देव के नेत्रों से देखे।

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।।

यजु. ३६/१८

अर्थ – अविद्यारूपी अंधकार के निवारक जगदीश्वर, प्राणिमात्र मुझे मित्र की दृष्टि से समतापूर्वक देखे, मैं मित्र की दृष्टि से सब प्राणियों को समता से देखूँ। इससे हम परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें। उसमें हमें दृढ़ कर।

✓ ६६, दुष्टों को नष्ट करो

इत्थं व्यवसिता हन्तुमृषयो रूढमन्यवः ।
निजघ्नुर्हुङ्कृतैर्वेनं हतमच्युतनिन्दया ।।

श्रीमद्‌भागवत ४/१४/३४

अर्थ – इस प्रकार क्रुद्ध होकर उन ऋषियों ने वेन को नष्ट करने का निश्चय किया और श्री भगवान की निंदा के कारण ही नष्ट प्राय: बने वेन का हुंकार से नाश किया ।

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ।।

अथर्ववेद ८/३/२

अर्थ – हे अग्नि ! तू प्रदीप्त होकर, लौहदंष्ट्रा से युक्त बनकर अपने प्रकाश से, यातना देने वालों को जला, मूढ लोगों को तेरी जीभरूपी ज्वाला से ठीक करना शुरू कर । बलयुक्त बनकर मांसभक्षी हिंसकों को निगल ले ।

६७. प्रजा, राष्ट्र और धर्म (ऋत) की रक्षा

राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः प्रजा नृपः ।
रक्षन् यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते ।।
यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः ।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः ।।
तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः ।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने ।।

श्रीमद्‌भागवत ४/१४/१७-१९

अर्थ – हे राजा, दुष्ट प्रधानों से तथा चोर आदि से प्रजाओं का रक्षण करने वाला और शास्त्रानुसार कर लेने वाला राजा इस लोक में तथा परलोक में सुख प्राप्त करता है । जिस राजा के देश में तथा नगर में वर्णाश्रमधर्म का अनुसरण करने वाले लोग स्वधर्मानुसार भगवान श्रीयज्ञपुरुष का पूजन करते हैं और जो अपने राजधर्म में स्थिर रहता है उसके ऊपर प्राणिमात्र के रक्षक विश्वात्मा भगवान प्रसन्न रहते हैं ।

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो धर्मा अनु रेत आगुः ।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् ।।

अथर्ववेद ८/९/१३

अर्थ – तीनों सत्य के मार्ग के अनुकूल बनते हैं। तीनों यज्ञ वीर्य के के अनुकूल बनते हैं। एक प्रजा-संतति को तृप्त करता है, दूसरा बल की रक्षा करता है, तीसरा देव के साथ सुसंबद्ध राष्ट्र की रक्षा करता है।

६८. कृषिकर्म की प्रशंसा

पुरा सृष्टा ह्योषधयो ब्रह्मणा या विशाम्पते ।
भुज्यमाना मया दृष्टा असद्भिरधृतव्रतैः ।।
अपालितानादृता च भवद्भिर्लोकपालकैः ।
चोरीभूतेऽथ लोकेऽहं यज्ञार्थेऽग्रसमोषधीः ।।
नूनं ता वीरुधः क्षीणा मयि कालेन भूयसा ।
तत्र योगेन दृष्टेन भवानादातुमर्हति ।।
वत्सं कल्पय मे वीर येनाहं वत्सला तव ।
धोक्ष्ये क्षीरमयान् कामाननुरूपं च दोहनम् ।।

श्रीमद्भागवत ४/१८/६-९

अर्थ – हे राजन्, प्राचीन काल में जिन अन्नादि औषधियों का ब्रह्मा ने सृजन किया था उनका उपभोग आचारभ्रष्ट दुष्ट लोग कर रहे हैं, ऐसा मैंने (पृथ्वी ने) देखा और तुमने (पृथु राजा ने) मेरा पालन नहीं किया और अनादर किया। लोग भी चोर हो गये थे। अतः यज्ञ के लिए ही मैं औषधियों को निगल गई थी। बहुत समय बीत जाने के कारण यद्यपि मुझमें रही हुई वे औषधियाँ जीर्ण हो गई हैं, तथापि प्रसिद्ध उपायों द्वारा आप उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। हे वीर, आप श्रीमान यदि बल देने वाला और प्राणियों का इष्ट अन्न प्राप्त करना चाहते हैं तो किसी को मेरा बछड़ा बनाएँ तथा दुहने के लिए योग्य पात्र व दुहने वाले को तैयार करें, ताकि मैं प्रेमपूर्ण बनकर दुग्धमय सर्व इच्छित पदार्थ दूँगी।

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि ।
गामश्वं पोषयित्वा स नो मृळातीदृशे ।।
क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व ।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु ।।
मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम् ।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान् नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ।।
शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।
शुनं वस्त्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ।।
शुना सीराविमां वाचं जुषेथां यद् दिवि चक्रथुः पयः ।
तेनेमामुप सिञ्चतम् ।।
अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा ।
यथा नः सुभगासिस यथा नः सुफलासिस ।।
इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ।।
शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशं अभियन्तु वाहैः ।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ।।

ऋग्वेद ४/५७/१-८

अर्थ – मित्र के समान हितकारी क्षेत्रपति की सहायता से हम खेतों को प्राप्त करें । वह देव हमें गाय और घोड़ों को पुष्ट करने वाला धन प्रदान करे और उस धन से हमें सुखी करें ।

हे क्षेत्र के स्वामी ! जिस प्रकार गाय दूध देती है उसी प्रकार तू मिठास से भरपूर और प्रवाह से युक्त जल प्रदान कर । जिस प्रकार मीठे और पवित्र शीतल जल प्यासे मनुष्य को सुख देते हैं, उसी तरह सत्य कर्मों का पालन करने वाले देव हमें सुख दें ।

औषधियाँ-वनस्पतियाँ हमारे लिए मिठास से भरपूर हों । द्यु, जल और अन्तरिक्ष हमारे लिए मधुर हों । भूमि भी हमारे लिए मधुरता से युक्त हो और हम किसी भी तरह से हिंसित न होते हुए क्षेत्रपति का अनुसरण करें ।

घोड़े आदि वाहन और मनुष्य हमारे लिए सुखकारी हों। हल सुखपूर्वक हमारे खेतों को जोतें, जुवे आदि सुखपूर्वक बाँधे जायँ और बैलों पर उठाये हुए चाबुक अत्याचार करने के लिए न होकर मिठास से भरे हुए हों।

हे इन्द्र और वायु! तुमने द्युलोक में जिस उत्तम जल का निर्माण किया है, उस जल से इस भूमि को सींचो।

हे उत्तम ऐश्वर्यवाली भूमि! तू हम पर कृपा कर। हम तेरी वन्दना करते हैं। तू हमारे लिए उत्तम ऐश्वर्य देने वाली तथा उत्तम फल देने वाली हो।

इन्द्र हल की मूठ पकड़े। पूषादेव उसकी निगरानी रखे, ताकि भूमि उत्तम धान्य तथा जल से भरपूर होकर प्रत्येक वर्ष हमें उत्तम धान्य प्रदान करें।

हल के फाल हमारी भूमि को अच्छी तरह जोतें। किसान अपने बैलों के साथ सुख से रहें। मेघ भी समय-समय पर जल बरसाकर हमें सुख प्रदान करें। इन्द्र और वायु हमें हर तरह से सुखी करें।

६९. स्वाश्रय-हाथ-मानवशक्ति-कृषि की सफलता

इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः।
वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः।।

श्रीमद्भागवत ४/१८/१२

अर्थ – इस प्रकार पृथ्वी का प्रिय तथा हितकारक वाक्य सुनकर पृथु राजा ने स्वायंभुव मनु को बछड़ा बनाकर अपने हाथ से धान्यादि सर्व औषधियों को दुह लिया।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवतरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः।।
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि।।

अथर्ववेद ४/१३/६,७

अर्थ – यह मेरा भाग्यवान् हाथ है। यह मेरा हाथ ज्यादा भाग्यशाली है। यह मेरा हाथ सब रोगों का निवारक है। यह मेरा हाथ शुभ मंगल बढ़ाने वाला है।

दस अंगुलियों के साथ मेरे दोनों हाथों से तेरा स्पर्श करता हूँ। मेरी जिह्वा वाणी से प्रेरणा के शब्द बोलती है। इस प्रकार आरोग्य देने वाले मेरे ये दोनों हाथ तुम्हारा स्पर्श करते हैं।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नया ।।

ऋग्वेद १०/१०१/४

अर्थ – हलों को जोतते हैं। कृषि-कर्म में कुशल व्यक्ति जुओं को पृथक् करते हैं। उस समय मेधावीजन उत्तम स्तुतियों का उच्चारण करते हैं।

(७१) शुद्ध शासन से देश का सार्वत्रिक आविष्कार

पृथ्वी का दोहन

भागवत ४/८/१२
यजुर्वद १८

भिन्न-भिन्न आविष्कार–

ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथ सत्तम ।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि ।।
कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन् ।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः ।।
दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम् ।
विधायादूदुहन् क्षीरमयःपात्रे सुरासवम् ।।
गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् पात्रे पद्ममये पयः ।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं मधु सौभगम् ।।
वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्यं क्षीरमधुक्षत ।
आमपात्रे महाभागाः श्रद्धया श्राद्धदेवताः ।।

प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः सङ्कल्पनामयीम् ।
सिद्धिं नभसि विद्यां च ये च विद्याधरादयः ।।
अन्ये च मायिनो मायामन्तर्धानाद्भुतात्मनाम् ।
मयं प्रकल्प्य वत्सं ते दुदुहुर्धारणामयीम् ।।
यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिनाशनाः ।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम् ।।
तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम् ।
विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः ।।
पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम् ।
अरण्यपात्रे चाधुक्षन्मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः ।।
क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वे कलेवरे ।
सुपर्णवत्सा विहगाश्चरं चाचरमेव च ।।
वटवत्सा वनस्पतयः पृथग्रसमयं पयः ।
गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून् स्वसानुषु ।।

श्रीमद्भागवत ४/१८/१४-२५

अर्थ – हे विदुर, ऋषियों ने बृहस्पति को बछड़ा बनाकर इन्द्रियाँ रूपी पात्र में पृथ्वी से वेदमय पवित्र दूध दुहा । देवगण ने इन्द्र को बछड़ा बनाकर सुवर्ण-पात्र में मनःशक्ति, इन्द्रियशक्ति और देहशक्ति का कारण अमृतरूपी दूध दुहा । दैत्यों तथा दानवों ने असुर श्रेष्ठ प्रहलाद को बछड़ा बनाकर लोहे के पात्र में मदिरा और आसवरूपी दूध निकाला । गन्धर्वों तथा अप्सराओं ने विश्वावसु को बछड़ा बनाकर कमलरूप पात्र में वाणी की मधुरता वाला संगीतशास्त्र एवं सौन्दर्यरूप दूध निकाला । महान् भाग्यशाली श्राद्धदेव पितृओं ने अर्यमा को बछड़ा बनाकर मिट्टी के पात्र में कव्य नामक अपना अन्न रूप दूध श्रद्धापूर्वक दुहा । सिद्धों ने कपिलदेव को बछड़ा बनाकर आकाशरूपी पात्र में संकल्पमात्र से उत्पन्न होनेवाली अणिमादि सिद्धियाँ रूप दूध दुहा । विद्याधर आदि ने कपिलदेव को बछड़ा बनाकर आकाशरूप पात्र में आकाशगामिनी विद्या आदि रूप दूध दुहा । अन्य मायावी किंपुरुष आदि देवों ने मय दानव को बछड़ा बनाकर आकाशरूप पात्र में ही अन्तर्धान के द्वारा अद्भुत आत्माओं से संबंधित

धारणामय माया शक्ति को दूध रूप से दुहा। यक्षों, राक्षसों, भूतों, पिशाचों तथा मांसाहारी देवों ने रुद्रदेव को बछड़ा बनाकर मनुष्य-कपाल रूप पात्र में लहूरूप आसव को दूध रूप में दुहा। बिना फणों के सर्पों ने, बिच्छुओं ने, फणा वाले सर्पों ने तथा कद्रू के वंशज नागों ने तक्षक नाग को बछड़ा बनाकर बिलरूप पात्र में जहर रूप दूध दुहा। पशुओं ने नन्दिकेश्वर को बछड़ा बनाकर जंगल रूप पात्र में घास रूप दूध तथा दँष्ट्राओं वाले मांसाहरी प्राणियों ने सिंह को बछड़ा बनाकर अपने भक्ष्य शरीर रूप पात्र में मांस रूप दूध दुहा। पक्षिओं ने गरुड़ को बछड़ा बनाकर अपने भक्ष्य शरीर रूप पात्र में ही कीड़े वगैरह तथा फल वगैरह दूध रूप से दुहे। वनस्पतियों ने वटवृक्ष को बछड़ा बनाकर अपने भक्ष्य शरीर रूप पात्र में ही भिन्न-भिन्न रसरूप दूध दुहा। पर्वतों ने हिमालय को बछड़ा बनाकर अपने शिखरों रूपी पात्र में अनेक प्रकार की धातुओं रूप दूध को दुहा।

(१) समृद्धि-पुष्टि

रयिश्च मे रायश्च मे पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे विभु च मे प्रभु च मे पूर्णंच मे पूर्णतरं च मे कुवयं च मेऽक्षितं च मेऽन्नं च मेऽक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पताम् ।

यजु. १८/१०

अर्थ – सुवर्ण, मुक्तादि मणि, धन, शरीर, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, धनपुत्रादि का बाहुल्य, हाथी, घोड़े, धान्यओदन, क्षुधा-भुक्तान्न यह सब मुझे यज्ञ द्वारा प्राप्त हों।

(२) धान्य-समृद्धि

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुग्दाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियंगवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पताम् ।।

यजुर्वेद १८/१२

अर्थ – व्रीहि, यव, माष, तिल, मुग्द, खल्व, प्रियंगव, अणव, श्यामाका, नीवार, गोधूम, मसूर–ये सब धान्य मुझे यज्ञ के द्वारा प्राप्त हों।

(३) पर्वत-वनस्पति

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पताम् ।

यजुर्वेद १८/१३

अर्थ – पाषाण, मृत्तिका, पर्वत–छोटे और बड़े, बालू, वनस्पति, सुवर्ण, रजत, लोहा, कांस्य, सीसा, कलाई–यह सब यज्ञ के द्वारा मुझे प्राप्त हो ।

(४) समृद्धि का लोक-कल्याण के लिए दान

आयुर्यज्ञेन कल्पन्तां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पाताम् । स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च । स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम येट् स्वाहा ।।

यजुर्वेद १८/२९

अर्थ– आयुष्य की यज्ञप्रसाद द्वारा वृद्धि हो । प्राण यज्ञ द्वारा रोग-रहित, बलिष्ठ हो । चक्षु-इन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, वाग्-इन्द्रिय यज्ञ द्वारा उत्कृष्टता को प्राप्त हो । मन, इन्द्रिय यज्ञ के प्रभाव से स्वस्थता को प्राप्त हो । देह, आत्मा यज्ञ के प्रभाव से प्रसन्नता को प्राप्त करें । वेद, स्वयंप्रकाश परमात्मा, स्वर्ग स्तोत्र यज्ञ से प्राप्त हो । यज्ञ यज्ञ से सिद्ध हो । स्तोत्र, यजुस्, ऋक् साम, बृहद् तथा रथन्तर साम यज्ञ द्वारा सिद्ध हो । हम यजमान देवस्वरूप होकर स्वर्ग को प्राप्त हुए, अमर हुए तथा हिरण्य गर्भ की प्रजा बनें । समस्त देवगण के निमित्त यह धाराहवन होता है, वे सब प्रसन्न हों । यह आहुति सुगृहीत हो ।

७१. प्रत्येक वर्ण के लिए निवास-रचना : राष्ट्रधर्म

अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता ।
निवासान् कल्पयांश्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः ।।
ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च ।
घोषान् व्रजान् सशिबिरानाकरान् खेटखर्वटान् ।।

श्रीमद्भागवत ४/१८/३०-३१

अर्थ– इसके बाद सबको आजीविका देनेवाले उस ऐश्वर्यवान पिता पृथु राजा ने भूमंडल पर उन-उन स्थलों पर प्रजाओं के योग्य निवास-स्थानों की रचना की। गाँव, शहर, पत्तन, अनेक प्रकार के दुर्ग, गोपालकों–अहीरों के घोष, गायों के वास-स्थान, सैनिक छावनियाँ, किसानों के गाँव पर्वतों की तलहटी के गाँवों की उन्होंने रचना की।

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमिता स्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिंदा ।।

अथर्व ३/१२/५

अर्थ– हे संमान के रक्षक, अंदर आश्रय के योग्य, सुखदायक, दिव्य प्रकाशमान घर! तू सर्वप्रथम देवों के द्वारा बनाया गया था। घास पहनने पर भी तू उत्तम मनवाला है। तू हमें वीरों से युक्त धन दे।

(१) निवासान्

अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता ।
निवासान् कल्पयांश्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः ।।

श्रीमद्भागवत ४/१८/३०

अर्थ–सबको आजीविका देनेवाले उन ऐश्वर्यवान पिता पृथु ने पृथ्वी के ऊपर भिन्न-भिन्न स्थानों पर योग्य निवासस्थानों की रचना की।

इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ।।

अथर्व. ३/१२/२

अर्थ– हे घर, तू अश्वोंवाला, गायों वाला तथा मधुर भाषण वाला बनकर यहीं पर स्थिर रह। अन्नवाला, घी वाला और दूधवाला बनकर महान् वैभव के लिए उन्नत बनकर खड़ा रह।

(२) दुर्गान्

ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च ।
घोषान् व्रजान् सशिबिरान् आकरान् खेटखर्वटान् ।।

श्रीमद्भागवत ४/१८/३१

अर्थ– महाराज पृथु ने गाँव, शहर, पत्तन, अनेक प्रकार के दुर्ग, गोपालकों-अहीरों के घोष, गायों के वास-स्थान सैन्य-छावनियाँ, सोने आदि की खदानें, किसानों के गाँव तथा पर्वत की तलहटी के गाँवों की रचना की।

यथा वः स्वाहाग्नये दाशेम परीळाभिर्घृतवद्भिश्च हव्यैः ।
तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिःशतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि ।।

ऋग्वेद ७/३/७

अर्थ– हे अग्नि, तुम्हारे लिए दिए गए हवि से तथा गायों के घृत से मिश्रित हवन द्रव्यों से हम तेरी सेवा करते हैं। तू भी उस अपरिमित तेजों से सैकड़ों लोहे के किलों से हमारी रक्षा कर।

(३) नगरपुरम्

श्रीमद्भागवत वही ४/१८/३१

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।।

अथर्ववेद १०/२/३१

अर्थ– आठ चक्र तथा नौ द्वारों वाली यह अयोध्या देवों की नगरी है। उसमें तेजस्वी कोश है वही तेज से परिपूर्ण स्वर्ग है।

(विशेष देखिए : शतपथ ब्राह्मण १३.३.७)

७२. राष्ट्र का व्यापक उत्थान

यजुर्वेद अ-१८।	मंडल
१. आध्यात्मिक उन्नति	३, ५
२. इन्द्रियशक्ति की उन्नति	७
३. धन ,, ,,	१०
४. अन्न ,, ,,	१२
५. धातुओं रेती पत्थर ,,	१३
६. भिन्न-भिन्न छोटे बड़े यज्ञों द्वारा उन्नति	२०
७. यज्ञ के साधन	२१
८. काल	२३
९. प्राप्त संपत्तिका जनहितार्थ दान	२९

श्रीमद्भागवत ४/१८/१२/२५ से तुलनीय

७३. अश्वमेध

अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन सः ।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ।।

श्रीमद्भागवत ४/१९/१

अर्थ— फिर महाराज पृथु ने ब्रह्मावर्त नामक मनु के क्षेत्र में, जहाँ सरस्वती नदी पूर्व में बहती है, सौ अश्वमेघ यज्ञ करने की दीक्षा ली।

१. राजा वै एष यज्ञानां यदश्वमेधः।

२. सर्वा वै देवताः अश्वमेधेऽन्वयत्तास्तस्मादश्वमेधयाजी सर्वं दिशो सर्वंदिशोभिः(सर्वधर्मसाधनैः)जयति श्रीवै राष्ट्रम्। राष्ट्रशमेवाश्वमेधः। तस्मात् राष्ट्री (शासकः) अश्वमेधेन यजेत। इसका परिणाम—

गिरयस्ते हिमवन्तो पर्वता अरण्या पृथिवी स्योनमस्तु।

८ ७४. शासक की योग्यता

अव्यक्तवर्त्मैष निगूढकार्यो
गम्भीरवेधा उपगुप्तवित्तः ।
अनन्त माहात्म्य गुणैक धामा
पृथुः प्रचेता इव संवृतात्मा ।।

दुरासदो दुर्विषह आसन्नोऽपि विदूरवत् ।
नैवाभिभवितुं शक्यो वेनारण्युत्थितोऽनलः ।।
अन्तर्बहिश्च भूतानां पश्यन् कर्माणि चारणैः ।
उदासीन इवाध्यक्षो वायुरात्मेव देहिनाम् ।।
नादण्ड्यं दण्डयत्येष सुतमात्मद्विषामपि ।
दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः ।।
अस्याप्रतिहतं चक्रं पृथोरामानसाचलात् ।
वर्तते भगवानर्को यावत्तपति गोगणैः ।।
रञ्जयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः ।
अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः ।।
दृढव्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः ।
शरण्यः सर्वभूतानां मानदो दीनवत्सलः ।।
मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्यामर्ध इवात्मनः ।
प्रजासु पितृवत्स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम् ।।
देहिनामात्मवत्प्रेष्ठः सुहृदां नन्दिवर्धनः ।
मुक्तसंगप्रसङ्गोऽयं दण्डपाणिरसाधुषु ।।

श्रीमद्भागवत ४/१६/१०/१८

अर्थ—महाराज पृथु के प्रवेश तथा निर्गमन का मार्ग वरुण की तरह अस्पष्ट रहेगा। उसके कार्य अत्यन्त गुप्त रहेंगे। उसका धन सुरक्षित रहेगा। अनंत महात्म्य वाले गुणों का निवास यह सुरक्षित आत्मावाला होगा। वेन राजा रूपी अरणि-काष्ठ से उत्पन्न यह अग्निरूप राजा शत्रुओं द्वारा मन से भी प्राप्त करने में अशक्य, शत्रुओं के लिए दु:सह और समीप में रहने पर भी दूर तथा किसी भी पुरुषार्थ से पराभूत नहीं हो सकेगा। यह राजा गुप्त दूतों के द्वारा प्राणिमात्र के

अन्दर के तथा बाहर के कर्मों को देखना रहेगा, फिर भी प्राणिमात्र के अध्यक्ष आत्मारूप वायु सूत्रात्मा की तरह उदासीन की तरह व्यवहार करेगा। धर्ममार्ग में रहने वाला यह राजा शिक्षा के योग्य न हो तो अपने शत्रुपुत्र को भी शिक्षा नहीं करेगा और अपना पुत्र भी शिक्षा-योग्य होगा तो उसे शिक्षा करेगा। भगवान सूर्य अपनी किरणों से मानसाचाचल पर्वत तक प्रकाशित होता है, उसी प्रकार पृथुराजा की आज्ञा (और सेना) उस पर्वत तक अस्खलित संचरण करेगी । यह मन को आनन्दित करनेवाले अपने चरित्रों से सब को प्रसन्न करेगा, अतः प्रजा इसे 'राजा' कहेगी। यह राजा दृढ़ व्रत वाला, सत्यप्रतिज्ञावाला, ब्राह्मण-भक्त, वृद्धों की सेवा करनेवाला, प्राणिमात्र के लिए शरणागतवत्सल, सबका सन्मान करने वाला, दीन-वत्सल, परस्त्री पर माता की भक्ति रखने वाला और पत्नी पर अपने अर्धांग की तरह प्रीति रखने वाला होगा। यह प्रजाओं के प्रति पिता का-सा सौहार्द्र, ब्रह्मवादियों का दास, प्राणिमात्र को आत्मा की तरह प्रिय, मित्रों का आनन्द बढ़ाने वाला, मुक्तसंग वैराग्यवान् पुरुषों की संगति करने वाला और दुष्ट पुरुषों के लिए यमराज जैसा होगा।

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ।।
अथर्ववेद ४/८/१

अर्थ– जो स्वयं विशेष प्रभावशाली है और समस्त जनता को विशेष सुखोपभोग प्राप्त करवाने का कार्य करता है वही लोगों का अधिपति बनता है। जो मृत्यु सब प्राणियों का अन्त करने करने है वही उस राजा का शासक दंडधारी बनकर उसकी सहायता करता है । इस प्रकार का प्रतापी पुरुष ही प्रजा की अनुमति से राज्य शासन चलाए ।

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः ।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ।।
अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः ।
रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक् ।।

तस्य मे तदनुष्ठानाद्यानाहुर्ब्रह्मवादिनः ।
लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक् ।।

श्रीमद्भागवत ४/२१/२१-२३

अर्थ– (पृथुराजा बोले–) हे सभासदो, आपका कल्याण हो। इस यज्ञ में पधारे हुए आप मेरी बात सुनो। धर्म जिज्ञासु पुरुष सज्जनों के समक्ष कहने योग्य बात अवश्य कहे। मुनियों ने मुझे सर्व का रक्षक, सर्व को आजीविका देने वाला सर्व को अपनी-अपनी मर्यादा में अलग-अलग रखने वाला तथा कुमार्गगामियों को शिक्षा करनेवाला राजा बनाया है। अत:पूर्वकर्म के साक्षी ईश्वर जिस पर प्रसन्न होते हैं उस मनुष्य को सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाले जिस लोक की प्राप्ति होती है उस लोक की प्राप्ति इस प्रजारक्षण का कार्य करने से मुझे भी होगी।

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणुत्वम् ।
निरमित्रानक्षणुह्यस्य सर्वास्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ।।

अथर्ववेद ४/२२/१

अर्थ– हे प्रभु, इस मेरे राष्ट्र में जो क्षत्रिय हैं उनके क्षात्रतेज की वृद्धि कर और इस राजा को सब प्रजाजनों में अद्वितीय बलवान बना। हमारे इस राज्य के सब शत्रु निर्बल बनें और सब स्पर्धाओं में उसका कोई प्रतिपक्षी न रहे।

विशेष के लिए देखिए–

राजकर्त्तव्य–अथर्ववेद काण्ड ७, सूक्त १० से १६

७५. राज्य का (शासक का) घोषणा-पत्र

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः ।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ।।
अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः ।
रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक् ।।
तस्य मे तदनुष्ठानाद्यानाहुर्ब्रह्मवादिनः ।
लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक् ।

य उद्धरेत् करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन् ।
प्रजानां शमलं भुङक्ते भगं च स्वं जहाति सः ।।
तत् प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानसूयवः ।
कुरुताधोक्षजधियस्तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः ।।
यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः ।
कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम् ।।

श्रीमद्भागवत ४/२१/२१-२६

अर्थ– हे सज्जन सभासदो, आप लोगों का कल्याण हो । इस यज्ञ में आये हुए आप मेरी बात सुनिये । धर्म की जिज्ञासावाले पुरुषों को चाहिए कि सज्जनों के समक्ष अपना निवेदयितत्व निवेदन करे । मुनियों ने मुझे सर्व का रक्षक, सर्व को आजीविका देनेवाला, सर्व को अपनी-अपनी मर्यादा में रखने वाला और कुमार्गगामियों को शिक्षा करने वाला प्रजा का राजा नियुक्त किया है । इसलिए पूर्वकर्म के साक्षी ईश्वर जिसके ऊपर प्रसन्न होते हैं उस मनुष्य को सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाले जिस लोक की प्राप्ति होती है, वह प्रजा रक्षण का कार्य करने से मुझे भी होगी । जो राजा प्रजा को धर्म का शिक्षण नहीं देता फिर भी उसके पास से कर लेता है वह प्रजाओं के पापों को भोगता है तथा अपने ऐश्वर्य से भ्रष्ट होता है । इसलिए हे प्रजाजनो, तुम्हारे स्वामी मुझ पिंडदान की तरह परलोक में हित करने के लिए ईर्ष्यारहित बनकर तथा भगवान में बुद्धि रखकर श्री वासुदेवार्पण की भावना से यदि तुम अपने धर्म का ही आचरण करो तो मेरे पर बड़ी कृपा होगी । हे निष्पाप पितृओं, देवों तथा ऋषियों, आप लोग भी मेरे इस वचन को संमति दें, क्योंकि धर्माचरण के लिए शिक्षण देने वाले तथा सम्मति देने वाले दोनों को परलोक में जो फल मिलता है वह समान ही होता है ।

प्रति क्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु । प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन्प्रति । प्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे ।।

यजु. २०/१०

अर्थ– क्षय से रक्षा करनेवाले क्षत्रिय कुल में प्रतिष्ठित होकर मैं राज्य में प्रतिष्ठा प्राप्त करता हूँ। अश्वादि वाहनों में प्रतिष्ठित होकर गाय तथा पृथिवी आदि पदार्थों में प्रतिष्ठा प्राप्त करता हूँ। राजा के अंगों में प्रतिष्ठित होकर आत्मा में प्रतिष्ठा प्राप्त करता हूँ। प्राणों में प्रतिष्ठित होकर पुष्टि करने में मैं प्रतिष्ठा प्राप्त करता हूँ। सूर्य-चन्द्र की तरह न्यायप्रकाश तथा पृथिवी में प्रतिष्ठित होकर में विद्वानों की सेवा, संग और विद्यादान आदि क्रियाओं में प्रतिष्ठा प्राप्त करता हूँ।

७६. सभा और समिति (राज्यसभा-लोकसभा)

राज्याभिषेक के बाद का उद्बोधन

एकदाऽऽसीन्महासत्रदीक्षा तत्र दिवौकसाम्।
समाजो ब्रह्मर्षीणां च राजर्षीणां च सत्तम ॥

श्रीमद्भागवत ४/२१/१३

अर्थ – हे सज्जनों में उत्तम विदुर, एक बार उस पृथु राजा ने बड़े यज्ञ की दीक्षा ली थी। उस समय वहाँ ब्रह्मर्षियों तथा राजर्षियों की सभा एकत्र हुई थी।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारुवदानि पितरः संगतेषु ॥
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥

अथर्व. ७/१२/१,२

अर्थ – राष्ट्र में ग्रामसभा और राष्ट्र समिति होनी ही चाहिए। राजा उनका पुत्री की तरह पालन करें। ये दोनों सभाएँ एकमति से राष्ट्र कार्य करें और प्रजानुरंजन करने वाले राजा का पालन करें। राजा जिस सभासद से राज्य-शासन-विषयक सलाह माँगे वह सभासद राजा को दे। सभासद तथा राजा सभाओं में सभ्यतापूर्वक वाद-विवाद करें।

इन लोकसभाओं का नाम 'नरिष्टा' है, क्योंकि उनके अस्तित्व से राजा या प्रजा का नाश नहीं होता। इन सभाओं में जो सभासद हों वे राजा को अपनी सलाह निष्पक्षपात एवं स्पष्ट शब्दों में दें।

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात्प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात्स्वधा ।।
सर्वान्कामान्पूरय त्वा भवन्प्रभवन्भवन् ।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ।।

अथर्ववेद ३/२९/१,२

अर्थ -- नियमपूर्वक प्रजापालन करने वाले राजा की इस राजसभा के सभासद वस्तुतः राजा ही हैं । वे प्रजा से अन्न आदि आय का सोलहवाँ भाग कर के रूप में लेते हैं । राजा को दिया हुआ यह भाग संपूर्ण राष्ट्र का रक्षण करता है, जो प्रजा को दुःख देते हैं उन्हें दंड देकर दबाता है, प्रजा की धारक शक्ति बढ़ाता है और उसको भयमुक्त करना है ।

यह कर प्रजा के सब अभ्युदय-संकल्पों को पूरा करता है, दुष्टों का दमन करता है, सज्जनों का पालन करता है, राष्ट्र का विस्तार करता है, वीरों का प्रभाव बढ़ाता है और जातियों के अस्तित्व को स्थिर रखता है । इसके साथ ही संपूर्ण जनता को मनोरथों को पूर्ण करता है और किसी भी प्रकार से प्रजा का नाश नहीं करता ।

७७. सार्वत्रिक उन्नति

इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः ।
वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहन्सकलौषधिः ।।
तथा परे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः ।
ततोऽन्ये च यथाकामं दुदुहः पृथुभाविनाम् ।।
ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथ सत्तम ।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि ।।
कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन् ।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः ।।
दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम् ।
विधायादूदुहन् क्षीरमयः पात्रे सुरासवम् ।।

गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् पात्रे पद्ममये पयः ।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं मधु सौभगम् ।।
वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्यं क्षीरमधुक्षन ।
आमपात्रे महाभागाः श्रद्धया श्राद्धदेवताः ।।
प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः संकल्पनामयीम् ।
सिद्धिं नभसि विद्यां च ये च विद्याधरादयः ।।
अन्ये च मायिनो मायामन्तर्धानाद्भुतात्मनाम् ।
मयं प्रकल्प्य वत्सं ते दुदुहुर्धारणामयीम् ।।
यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः ।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम् ।।
तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम् ।
विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः ।।
पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम् ।
अरण्यपात्रे चाधुक्षन् मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः ।।
क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वे कलेवरे ।
सुपर्णवत्सा विहगाश्चरं चाचरमेव च ।।
वटवत्सा वनस्पतयः पृथग् रसमयं पयः ।
गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून् स्वसानुषु ।।
सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक् पयः ।
सर्वकामदुघां पृथ्वीं दुदुहुः पृथुभाविताम् ।।
एवं पृथ्वादयः पृथ्वीमन्नादाः स्वन्नमात्मनः ।
दोहवत्सादिभेदेन क्षीरभेदं कुरूद्वह: ।।
ततो महीपतिः प्रीतः सर्वकामदुघां पृथुः ।
दुहितृत्वे चकारेमां प्रेम्णा दुहितृवत्सलः ।।

श्रीमद्भागवत ४/१८/१२-२८

अर्थ – इस प्रकार पृथ्वी का प्रिय तथा हितकारक वाक्य सुनकर पृथुराजा ने स्वायंभुव मनु की बछड़े के रूप में कल्पना करके अपने हाथ में धान्यादि सब औषधियों को दोह लिया । पृथु राजा ने जिस प्रकार सार ग्रहण कर लिया उसी प्रकार विद्वान सर्वत्र सार ग्रहण करते हैं । अतः पृथु

राजा के उपरान्त अन्यों ने भी उनके द्वारा वश की गई पृथ्वी से अपनी-अपनी इच्छित वस्तु दोह लीं।

ऋषियों ने बृहस्पति को बछड़ा बनाकर इंद्रियों के पात्र में पृथ्वी से वेदमय दूध दोह लिया। देवों ने इन्द्र को बछड़ा बनाकर सुवर्णपात्र में मन:शक्ति, इन्द्रियशक्ति तथा देहशक्ति का कारण अमृतरूपी दूध दुह लिया। दैत्यों तथा दानवों ने असुरश्रेष्ठ प्रह्लाद को बछड़ा बनाकर लौहपात्र में मदिरा-आसव रूप दूध को दुह लिया। गन्धर्वों तथा अप्सराओं ने विश्वावसु को बछड़ा बनाकर कमलपात्र में वाणी के माधुर्य वाला संगीत शास्त्र तथा सौन्दर्य शास्त्र रूप दूध दुह लिया। महाभाग्यशाली श्राद्धदेव पितृओं ने अर्यमा को बछड़ा बनाकर मिट्टी के पात्र में कव्य नामक अन्न दुहा। सिद्धों ने कपिलदेव को बछड़ा बनाकर आकाश-पात्र में संकल्पमात्र से उत्पन्न होने वाली अणिमादि सिद्धियों को दोहा। विद्याधरों ने भी आकाशगामिनी विद्या दोह कर प्राप्त की। अन्य मायावी किंपुरु आदि देवों ने मय दानव को बछड़ा बनाकर आकाश-पात्र में अन्तर्धान द्वारा अद्भुत आत्मा-संबंधी धारणामय माया शक्ति को दुहा। यक्षों, राक्षसों, भूतों, पिशाचों तथा मांसाहारी देवों ने रुद्र को बछड़ा बनाकर मनाव-कपाल में लहूरूपी आसव को दुहा। फणारहित और फणा वाले सर्पों ने, बिच्छुओं ने तथा कद्रू के वंशज नागों ने तक्षक को बछड़ा बनाकर बिल-पात्र में जहर दुहा। पशुओं ने नन्दिकेश्वर को बछड़ा बनाकर जंगल के पात्र में घासरूपी दूध तथा दंष्ट्रा वाले मांसाहारी प्राणियों ने सिंह को बछड़ा बनाकर अपने भक्ष्य शरीर रूपी पात्र में मांसारूपी दूध को दुहा।। पक्षिओं ने गरुड़ को बछड़ा बनाकर कीड़े तथा फल आदि दुहे। वनस्पतियों ने वटवृक्ष को बछड़ा बनाकर भिन्न-भिन्न रसरूपी दूध दुहा। पर्वतों ने हिमालय को बछड़ा बनाकर अपने अपने शिखरों के पात्र में अनेक प्रकार की धातुओं को प्राप्त किया।

इस प्रकार सबने पृथुराजा द्वारा वश में की हुई और सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाली पृथ्वी से अपने प्रधान पुरुष को बछड़ा बनाकर अपने-अपने पात्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार का दूध दुहा।

हे विदुर, इस प्रकार अन्नादि का आहार करने वाले पृथुराजा वगैरह ने पृथ्वी में से अपने इच्छित अन्नादि अपने-अपने बछड़े और पात्रों की

कल्पना करके दुह लिए । इसके बाद प्रसन्न हुए पृथुराजा ने सर्वकामनाओं को पूर्ण करने वाली पृथ्वी को प्रेम से अपनी पुत्री के रूप में स्वीकार किया, क्योंकि उस राजा को पुत्री के ऊपर प्रेम था ।

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ।

यजुर्वेद २२/२२

अर्थ – हे परमेश्वर, हमारे देश में यज्ञ-अध्ययनशील ब्राह्मण उत्पन्न हों । पराक्रमी, बाणावली, शत्रुभेदनशील तथा महारक्षी क्षत्रिय उत्पन्न हों । यजमान को दूधारु गाय तथा वहनशील बैल हो, शीघ्रगामी अश्व हो, सर्वगुण संपन्न स्त्री हो, रथस्थ-युद्धेच्छु-जयशील पुरुष हो । इस यजमान को समर्थ एवं सभायोग्य पुत्र हो । उपरान्त, हमारे देश में अपेक्षित वर्षा हो । हमारी औषधियाँ फलयुक्त होकर स्वयमेव परिपक्व हो तथा हमारा योगक्षेम सिद्ध हो ।

७८. एक ईश्वर-सर्वव्यापक

एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः ।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्माऽऽत्माऽऽत्मनः परः ॥

श्रीमद्भागवत ४/२०/७

अर्थ – आत्मा शरीर से भिन्न है, क्योंकि वह एक, शुद्ध, स्वयंज्योति, निर्गुण, गुणों का आश्रय स्थान, सर्वव्यापक, किसी से भी आवृत न रहने वाला या न ढँका हुआ, सर्व का साक्षी-द्रष्टा तथा अपने भीतर अन्य आत्मा से रहित है ।

यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं
श्रद्धातपोमङ्गलमौनसंयमैः ।
समाधिना बिभ्रति हार्थदृष्टये
यत्रेदमादर्श इवावभासते ॥

४/२१/४२

अर्थ – जो ब्राह्मण श्रद्धा, तप, मंगल, मौन, समय तथा चित्त की स्थिरता से शुद्ध एवं सनातन वेद नित्य धारण करते हैं और उसके अर्थ का विचार करते हैं, जिस वेद में दर्पण में मुख की तरह, इस विश्व का स्वरूप दिखाई देता है (उन ब्राह्मणों की चरण-रज को मस्तक पर धारण करें)।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

श्वेताश्वर ६/११

अर्थ – समस्त प्राणियों में स्थित एक देव है; वह सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ, सबका साक्षी, सब को चेतनत्व प्रदान करने वाला, शुद्ध और निर्गुण है।

७९. पुरंजन, अविज्ञातनामा आत्मा-परमात्मा का एकत्व

आसीत् पुरञ्जनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवाः ।
तस्याविज्ञातनामाऽऽसीत् सखाविज्ञातचेष्टितः ॥

श्रीमद्भागवत ४/२५/१०

अर्थ – हे राजन्! विशाल कीर्तिवाला पुरंजन नाम का एक राजा था। उसका एक मित्र था, जिसका नाम और व्यवहार किसी को मालूम न था।

हंसावहं च त्वं चार्य सखायौ मानसायनौ ।
अभूतामन्तरा वौकः सहस्र परिवत्सरान् ॥

४/२८/४५

अर्थ – हे आर्य, मैं और तू मानस सरोवर में रहने वाले दो मित्र हंस थे। हम हजार वर्षों तक बिना घर के ही रहे थे।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।

मुंडकोपनिषद् ३/१/१,२

अर्थ – साथ-साथ रहनेवाले तथा समान आख्यानवाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय करके रहते हैं । उनमें एक तो स्वादिष्ट (मधुर) पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है ।

(ईश्वर के साथ) एक ही वृक्ष पर रहनेवाला जीव अपने दीन स्वभाव के कारण मोहित होकर शोक करता है । वह जिस समय (ध्यान द्वारा) अपने से विलक्षण योगसेवित ईश्वर और उसकी महिमा (संसार) को देखता है उस समय शोकरहित हो जाता है ।

८०. राजधर्म

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः ।
सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ।।
अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः ।
रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक् ।।
तस्य मे तदनुष्ठानाद्यानाहुर्ब्रह्मवादिनः ।
लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक् ।
य उद्धरेत् करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन् ।
प्रजानां शमलं भुङक्ते भगंच स्वं जहाति सः ।।
तत् प्रजाभर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानसूयवः ।
कुरुताधोक्षजधियस्तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः ।।
यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः ।
कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम् ।।

श्रीमद्भागवत ४/२१/२१-२६

अर्थ – (पृथुराजा बोले) हे सज्जन सभासदो, आपका कल्याण हो। इस यज्ञ में आये हुए आप मेरी बात सुनें। धर्म की जिज्ञासा वाले पुरुषों को सज्जनों के समक्ष कथयितव्य बात कहनी चाहिए। (मुनियों ने) मुझे सर्वका रक्षक, सर्वको आजीविका देने वाला, सर्व को अपनी-अपनी मर्यादा में अलग-अलग रखनेवाला और (कुमार्गगामियों को) शिक्षा करने वाला प्रजा का राजा बनाया है। इसलिए पूर्व कर्म के साक्षी ईश्वर जिस पर प्रसन्न होते हैं उस मनुष्य को सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाले जिस लोक की प्राप्ति वेदवादियों ने कही है उस लोक की प्राप्ति यह प्रजारक्षण का कार्य करने से मुझे होगी। जो राजा प्रजा को धर्म का शिक्षण नहीं देता, फिर भी उससे कर लेता है वह प्रजा के पापों को भोगता है और अपने ऐश्वर्य से भ्रष्ट होता है। अतः हे प्रजाओ, तुम्हारे स्वामी मुझे पिंडदान के समान परलोक में हित करने के लिए ईर्ष्यारहित तथा श्रीभगवान में अपनी बुद्धि को स्थिर कर वासुदेवार्पण दृष्टि से यदि तुम स्वधर्म का आचरण करोगे तो यह मेरे ऊपर बड़ी कृपा होगी। हे निष्पाप पितृओ, देवो तथा ऋषिओ, आप लोग भी मेरी इस बात का समर्थन करें, क्योंकि धर्माचरण के लिए शिक्षा देने वाला और संमति देने वाला परलोक में जो फल प्राप्त करता है, वह समान ही होता है।

अच्छिद्रा सूनो सहसो नो अद्य स्तोतृभ्यो मित्रमहः शर्म यच्छ
अग्ने गृणन्तमंहस उरुष्योर्जो नपात् पूर्भिरायसीभिः ॥

ऋग्वेद १/५८/८

अर्थ – बल से उत्पन्न होने वाले हे अग्नि, स्तुति करनेवालों को तेजस्विता से युक्त सुख दे। अन्न उत्पन्न करने वाले हे अग्नि, स्तुति करने वालों को लोहे के किलों के समान पापों से दूर रख, उनको सुरक्षित रख।

वधीर्हि दस्युं धनिनं धनेनं एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र ।
धनोरधि विषुणक् ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः ॥

ऋग्वेद १/३३/४

अर्थ – धनुष आदि अस्त्रों का संग्रह करके शत्रु-सैनिक इन्द्र का नाश करने के लिए आए, पर वे स्वयं विनष्ट हो गए। शत्रु-सैनिक असावधानी से लाभ उठाना चाहते हैं, उस समय स्वयं सावधान रहकर उनका नाश करना चाहिए।

इमे तुरं मरुतो रामयन्तीमे सहः सहस आ नमन्ति ।
इमे शंसं वनुष्यतो नि पान्ति गुरु द्वेषो अररुषे दधन्ति ॥

ऋग्वेद ७/५६/१९

अर्थ – वीरगण त्वरा से कार्य करनेवालों को आनंद देने वाले हों। अपने प्रभावी सामर्थ्य से बलवान् शत्रु को भी विनम्र कर देनेवाले हों, पर जो उनका आदर करें, ऐसे अपने मित्रों की रक्षा करने वाले हों और शत्रुओं से द्वेष करने वाले हों।

अन्यव्रतममानुषयज्वानमदेवयुम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ॥

ऋग्वेद ८/७०/११

अर्थ – जो अधार्मिक काम करता है, मनुष्यता से रहित है, यज्ञ नहीं करता है तथा उत्तम काम नहीं करता, वह कभी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा मनुष्य तो नाश को ही प्राप्त होता है।

ताविद् दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम् ।
आभोगं हन्मना हतमुदधिं हन्मना हतम् ॥

ऋग्वेद ७/९४/१२

अर्थ – हे इन्द्र, हे अग्नि, जो दुष्ट हों, दुष्ट विद्वान् हों अर्थात् विद्वान् होकर भी दुष्टता करें तथा जो दूसरों की मालमत्ता या प्राणादि का अपहरण करने वाले राक्षस हों, उनका उसी तरह से नाश करो जिस तरह पानी से भरे घड़े को फोड़ते हैं।

पञ्चमः स्कन्धः

८१. अविद्या-नाश के बाद योग द्वारा निवृत्ति

कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्ध–
मविद्ययाऽऽसादितमप्रमत्तः ।
अनेन योगेन यथोपदेशं
सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात् ।।

श्रीमद्भागवत ५/५/१४

अर्थ – इस प्रकार प्रमादरहित पूर्वोक्त उपाय से, जिसमें कर्म बस रहे हैं ऐसी अविद्या के द्वारा प्राप्त हृदय की मोहरूप गांठ के बन्धन को शास्त्रोक्त उपदेश के अनुसार अच्छी तरह छोड़ दे और और फिर उस उपाय से भी विरत हो जाय ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।

कठोपनिषद् २/३/१४

अर्थ – जिस समय संपूर्ण कामनाएँ, जो कि इसके हृदय में आश्रय करके रहती है, छूट जाती हैं उस समय वह मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है और इस शरीर से ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है ।

८२. देहधर्म के ऊपर विजय

तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात् सुरभि चकार ।

श्रीमद्भागवत ५/५/३३

अर्थ – भगवान ऋषभदेव की विष्ठा की सुगंध से उस प्रदेश का वायु इस तरह सुवासित हो गया कि चारों तरफ दस-दस योजन तक के प्रदेश को वह सुवासित कर रहा था ।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वर सौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ।।

श्वेताश्वतर २/१३

अर्थ – शरीर का हल्कापन, नीरोगता, विषयासक्ति की निवृत्ति शारीरिक कान्ति की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता, सुगन्ध और मल-मूत्र की न्यूनता–इन सब को योग की पहली सिद्धि कहते हैं ।

८३. भागवती गायत्री

परोरजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान ।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे
हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः ।।

श्रीमद्भागवत ५/७/१४

अर्थ – प्रकृति से पर अर्थात् शुद्ध सत्त्वगुणमय श्री सूर्यदेव का स्वस्वरूपभूत तेज कर्मफल देने वाला है । जिन्होंने मात्र मन से ही यह जगत् उत्पन्न किया है और स्वसृजित उस जगत में अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करके तृष्णा वाले जीव का अपनी चैतन्य शक्ति से जो पालन करते हैं उन बुद्धि को गति देने वाले श्री सूर्यदेव के तेज की शरण में हम प्राप्त होते हैं ।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

यजुर्वेद ३/३५

अर्थ – जो हमारी बुद्धि को अतिशय प्रेरणा देता है उस सविता देव के सर्व द्वारा प्रार्थनीय वीर्य अथवा तेज का हम ध्यान करते हैं ।

८४. आत्मा की देह से भिन्नता

स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च
क्षुतृड्भयं कलिरिच्छा जरा च ।
निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ।।

श्रीमद्भागवत ५/१०/१०

अर्थ – स्थूलता, कृशता, रोग, मनोव्यथाएँ, भूख, प्यास, भय, कलह, इच्छा, वृद्धावस्था, निद्रा, मैथुन, क्रोध, अहंकार, मद तथा शोक–ये सब उसको होते हैं जो देह के साथ जन्मा हुआ है, मुझको नहीं। (क्योंकि मैं–जड़भरत देह के साथ नहीं जन्मा हूँ)।

साक्षी चेता: केवलो निर्गुणश्च । श्वेताश्वतर
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभार: सना देव न शीर्यते सनाभि: ।।

ऋग्वेद १/१६४/१३

अर्थ – पंच ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों अथवा महाभूतों के आरोंवाले, चक्कर लगाने वाले या भ्रमणशील, पुन: पुन: परिवर्तित होने वाले, उस देह-चक्र में सारे प्राणिमात्र रहते हैं। उस चक्र के मध्य में रहने वाला यह जीवात्मा क्षय न होने वाला तथा सकल भारी देह के उठाने से बहुत भार वाला होने के कारण दाह-क्लेशादि से पीड़ित नहीं होता और वह आत्मा सदा से ही एकरस चला आ रहा है, अत: इसे सनातन कहते हैं। इसलिए ही सर्वदा एकरूप नाभिवाला यह आत्मा नहीं टूटता।

८५. ब्रह्मदर्शन-वासुदेव

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष: पुराण:
साक्षात् स्वयंज्योतिरज: परेश: ।
नारायणो भगवान् वासुदेव:
स्वमाययाऽऽत्मन्यवधीयमान: ।।

श्रीमद्भागवत ५/११/१३

अर्थ – यह क्षेत्रज्ञ आत्मा सर्वव्यापी है, पुराण अर्थात् जगत का कारणभूत है, पुरुष अर्थात् पूर्णस्वरूप है, साक्षात् अर्थात् सब के लिए प्रत्यक्ष है, स्वयंज्योति है, अजन्मा अर्थात् जन्मादि से रहित है, परेश अर्थात् ब्रह्मादि का भी ईश्वर है, नारायण अथात् सर्व जीव-समूह का नियंता एवं आश्रयस्थान है, भगवान् अर्थात् ऐश्वर्यादि छ: गुणों से युक्त है तथा वासु-

देव अर्थात् सर्व प्राणियों का आश्रय है । वह जीव में स्व-आधीन माया द्वारा उसका नियंता बनकर रहा हुआ है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।

कठोपनिषद् २/२/९

अर्थ – जिस प्रकार संपूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूप (रूपवान् वस्तु) के अनुरूप हो गया है उसी प्रकार संपूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा उनके रूप के अनुरूप हो रहा है तथा उनसे बाहर भी है ।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्ठो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।

कठोपनिषद् २/२/१०

अर्थ – जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है उसी प्रकार संपूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है ।

८६. पृथ्वी का गोलाकार मार्ग

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमि त्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति तस्याक्षो मेरोर्मूर्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रचक्रवद् भ्रमन् मानसोत्तर गिरौ परिभ्रमति ।।

श्रीमद्भागवत ५/२१/१३

अर्थ – सूर्य के रथ का एक पहिया संवत्सररूप होने के कारण बारह मास रूप अराओंवाला है, छः ऋतुओं रूपी नेमीवाला है और तीन (ठंडी, गर्मी, वर्षा) नाभिवाला है, ऐसा विद्वानों का कहना है । इस रथ का अक्षदंड मेरु पर्वत के शिखर पर है और उसका दूसरी तरफ वाला भाग

मानसोत्तर पर्वत पर है । उसमें पिरोया हुआ सूर्य के रथ का पहिया तेल निकालने के कोल्हू की तरह घूमता हुआ मानसोत्तर पर्वत पर भ्रमण करता है ।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्ठिर्नचलाचलासः ।।

ऋग्वेद १/१६४/४८ अथर्व. १०/८/४

अर्थ – संवत्सररूपी चक्र है, जिसमें बारह मासरूपी अरे लगे हुए हैं। ग्रीष्म, शरद्, वर्षारूपी तीन नाभियाँ हैं और ३६० दिनरूपी कीलें उस चक्र में लगी हुई हैं । ये दिनरूपी कीलें हमेशा गति करती रहती हैं ।

अधिक मास का वैदिक विधान

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद्वेपय रोहित प्रक्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ।।

अथर्व. १३/३/८

अर्थ – जो दिवस तथा रात्रि का एक इस प्रकार के तीस दिन के बने हुए मास जैसे तेरह महीनों का निर्माण करता है ।

८७. भागवत का राष्ट्रगीत

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ।।
किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै–
र्दानादिभिर्वा धुजयेन फल्गुना ।
न यत्र नारायणपादपंकज
स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवान् ।।

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ।।

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ।।

प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो
ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम् ।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते
भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम् ।।

यैः श्रद्धया बर्हिषि भागशो हवि-
र्निरुप्तमिष्टं विधिमन्त्रवस्तुतः ।
एकः पृथङ्नामभिराहुतो मुदा
गृह्णाति पूर्णः स्वयमाशिषा प्रभुः ।।

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ।।

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं
स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम् ।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद्
वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति ।।

श्रीमद् भागवत५/१९/२१-२८

अर्थ – देव भी भारतवर्ष का गौरवगान करते हैं––“अहो, इस भारतवर्ष के लोगों ने ऐसे कौन-से पुण्य किये हैं ? अथवा, श्रीहरि स्वयं उन पर प्रसन्न हुए होंगे कि जिससे वे इस भारतवर्ष के प्रांगण में मनुष्यों के अंदर जन्मे हैं। मनुष्य-जन्म श्रीहरि की सेवा में उपयोगी है, अतः उसकी हम भी कामना करते हैं। हमने दुष्कर यज्ञ, तप, व्रत; दान इत्यादि किये और

उनके द्वारा यह तुच्छ स्वर्ग का अधिकार प्राप्त किया। परन्तु उससे क्या ? कोई फल नहीं मिला। कारण, इस स्वर्ग में श्रीनारायण के चरण-कमल का स्मरण नहीं, प्रत्युत इन्द्रियों के अतिशय भोग के कारण उसका विस्मरण हो जाता है। यहाँ कल्प पर्यन्त का दीर्घ आयुष्य है, परन्तु पुन: जन्म लेना पड़ता है। ऐसे स्वर्गादि स्थान का अधिकार प्राप्त करने के बदले सिर्फ एक ही क्षण के आयुष्य वाले मनुष्यों की भारतभूमि का अधिकार प्राप्त करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि मनुष्यजन्म द्वारा एक क्षण के लिए भी किये हुए कर्म श्रीहरि को समर्पित कर धीर पुरुष श्रीहरि का अभय-पद प्राप्त करते हैं। जहाँ श्री भगवान् की कथारूपी अमृत नदी नहीं बहती, श्री भगवान के आश्रित भगवद्भक्त नहीं होते तथा यज्ञपति श्री भगवान के निमित्त बड़े-बड़े उत्सवों वाली पूजाएँ नहीं होतीं, ऐसा स्थल यदि ब्रह्म लोक हो तो उसका भी सेवन न करें। जो इस भारतभूमि के ऊपर ज्ञान, ज्ञान के लिए आवश्यक क्रियाएँ तथा उन क्रियाओं के साधनद्रव्यों से पूर्ण मनुष्य-जन्म प्राप्त करके भी मोक्ष के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं वे, शिकारी के पंजे से एक बार छूटे हुए और प्रमादवश पुन: उसमें पड़े हुए जंगली पशुओं की तरह पुन: सांसारिक बंधन को प्राप्त होते हैं। भारतवासी लोग यज्ञ में श्रद्धापूर्वक 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि', 'इन्द्राय जुष्टं निर्वपामि' इस प्रकार विभागश: विधि, मंत्र तथा चरु-पुरोडाश आदि वस्तुओं से देवों के लिए हविर्द्रव्य की आहुति देते हैं उसे श्रीभगवान, जो कि एक हैं पर भिन्न-भिन्न नामों से संबोधित होते हैं, सर्व कामनाओं के स्वामी और पूर्ण होने पर भी 'यह हविस् मेरा है' इस प्रकार हर्षपूर्वक स्वीकार करते हैं। प्रार्थना करने पर भगवान इष्ट वस्तु देते हैं, यह सत्य है किन्तु परमार्थ (मोक्ष) नहीं देते, क्योंकि सकाम व्यक्ति एक बार देने पर पुन: दूसरी बार मांगने के लिए तैयार होते हैं, ज़ब कि निष्काम भक्त किसी भी इच्छा के बिना ही भजन करते हैं। उन्हें श्रीभगवान सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला अपना चरणकमल (मोक्ष) देते हैं। हम इस स्वर्ग के जो सुख भोगते हैं उसमें से जो कुछ हमारे द्वारा किये गये उत्तम यज्ञों, शास्त्राभ्यास तथा अन्य किसी कर्म का पुण्य बचा हो तो उस पुण्य से हमारा जन्म भारतवर्ष में हो और वहाँ हमें भगवान का नित्य स्मरण रहे; क्योंकि भारतवर्ष में जन्म लेकर भजन करने वाले मनुष्यों का श्री हरि कल्याण करते हैं।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ।।
यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ।।
यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ।।
विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ।।
यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानी देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ।।
यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ।।
यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ।।
यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ।।
गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवांभूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ।।
यत्ते मध्यं पृथिवी यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
ता सु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।।

अथर्ववेद १२/१/३-१२

अर्थ – हमारी मातृभूमि में सागर, महासागर, नद, नदी, तालाब, कुएँ, बावड़ियाँ, नहरें, झरने इत्यादि खेती को पानी देने वाले महान् साधन हैं । हमारी मातृभूमि में सब प्रकार का विपुल अन्न उत्पन्न होता है, जिससे सबको भोजना मिलता है । जिससे प्राणिमात्र सुखी हैं तथा जिसमें कारीगर लोग कला-कौशल में निपुण हैं, किसान खेती के कार्य में कुशल

हैं, अन्य लोग भी उद्यमी हैं, वह हमारी मातृभूमि हमें उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थ एवं ऐश्वर्य प्रदान करे।

हमारी मातृभूमि में लोग अत्यंत उद्यमी तथा कला-कौशलमें प्रवीण, खेती के कार्य में प्रवीण और परिश्रमी हैं। इस भूमि में चारों दिशाओं-उपदिशाओं में उत्तम धन-धान्य उत्पन्न होता है। इस भूमि में पशु, पक्षी, वनस्पति तथा अन्य जीवों का उत्तम प्रकार से पालन, पोषण और रक्षण होता है। ऐसी हमारी यह मातृभूमि हमें सदा गाय, घोड़े, अन्न इत्यादि देने वाली बने।

हमारी मातृभूमि में हमारे प्राचीन पूर्वजों ने---ब्राह्मणों ने अपने ज्ञान द्वारा, क्षत्रियों ने अपनी वीरता द्वारा और वैश्यों ने अपनी वाणिज्य-कुशलता द्वारा तथा कारीगरों ने अपनी कारीगरी से अनेक महान पराक्रम किये थे। हमारे देश के विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी और कारीगरों ने हिंसक, आततायी, घातकी और दुष्ट लोगों का नाश किया था। यह सुंदर भूमि सर्व पशु-पक्षियों को भी उत्तम निवास स्थान देती है। इस प्रकार की यह हमारी मातृभूमि हमारे ज्ञान, विज्ञान, शौर्य, तेज, वीर्य तथा ऐश्वर्य की पूर्णरूपेण वृद्धि करे।

सब का पोषण करने वाली, रत्नों को धारण करने वाली, सर्व पदार्थों की आश्रयदात्री, सुवर्ण आदि खनिज द्रव्यों को धारण करने वाली, स्थावर-जंगम जीवों-पदार्थों को स्थान देने वाली, सब प्रकार के मनुष्यों से युक्त, राष्ट्र अथवा देश की उन्नति में सहायता देने वाली यह हमारी मातृभूमि हमारे नेताओं, ज्ञानियों, वीर पुरुषों तथा हम सब को सब प्रकार का ऐश्वर्य देने वाली हो।

निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, अज्ञान आदि दोषों से रहित, सर्व विषयों में चतुर, उद्यमी, परोपकारी, विद्वान, शूरवीर तथा धनवान लोग सब पदार्थों को देने वाली इस विस्तृत भूमि की प्रमादरहित बनकर सेवा कर रहे हैं। ऐसी हमारी मातृभूमि सब उत्तम, प्रिय तथा हितकारक पदार्थों से हमें पूर्ण संपन्न बनावे और हमारे अंदर ज्ञान, शौर्य तथा धन उत्पन्न करके हमारी रक्षा करे।

ज़ो भूमि पहले समुद्र के गर्भ में थी, जिसके अंदर और बाहर परमेश्वर व्याप्त हैं, जो आकाश में बिना आधार के स्थित है और जिसकी सेवा विचारवान् लोग विशेष प्रसंगों पर गुप्त प्रयत्नों से तथा कुशलता से करते हैं वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में तेजस्विता, विद्वत्ता, शौर्य, शक्तिमत्ता इत्यादि गुणों की सदा वृद्धि करे।

जिस प्रकार वर्षा का पानी प्राणिमात्र को समान रूप से प्राप्त होता है उसी प्रकार जिसका उपदेश सब के लिए समान है ऐसे परोपकारी संन्यासी जिस भूमि में रात-दिन अपने उत्तम आचरण का त्याग न करते हुए सदा समान रूप से संचार करते रहते हैं और जो भूमि हमें सब प्रकार का अन्न तथा जल देती है वह हमारी मातृभूमि तेजस्विता के द्वारा हमारी रक्षा करे।

लोगों का पोषण तथा शत्रुओं का नाश करनेवाले जिसके लिए सदा भलाई के कार्य कर रहे हैं, पालन करने वाले जिसके लिए बड़े-बड़े पराक्रम कर रहे हैं और ज्ञानी, शूर जिसको अपना मित्र समझते हैं वह हमारी मातृभूमि, जिस प्रकार माता अपने बालकों को दूध पिलाती है उसी प्रकार हमें अपनी सब उपयोगी वस्तु दे।

हे मातृभूमि, तुम्हारे ऊपर जो पहाड़ तथा हिमाच्छादित पर्वत हैं और जो छोटे-बड़े जंगल हैं, उनमें कभी तुम्हारे शत्रुओं का निवास न हो। तुम शत्रुओं से रहित बनकर सबका पोषण करने वाले उपजाऊ उत्तम वृक्षादि से युक्त, स्थिर और वीरों से रक्षित हो। तुम पर शत्रुओं से अपराजित और मृत या घायल न होने वाले हम आनन्द से रहें और महान पदवी को प्राप्त करें, राष्ट्र को अपने अधिकार में रखें।

हे मातृभूमि, तुम्हारे ऊपर रहे हुए सर्व पदार्थों का तथा तुम्हारा शत्रुओं से रक्षण करने के लिए जो विद्वान, बलवान् और धनवान् एकत्रित होकर प्रयत्न करते हैं, उनके संघ में हमारा स्थान हो, क्योंकि तू हमारी माता है और हम तेरे पुत्र हैं।

८८. सूर्य का कार्य

देवतिर्यङमनुष्याणां सरीसृप सवीरुधान् ।
सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दृगीश्वर ।।

श्रीमद्भागवत ५/२०/४६

अर्थ – यह सूर्य देवों, पशु-पक्षियों, मनुष्यों, सर्पों तथा लताओं सहित सर्व जीव-समूहों के लिए आत्मा के रूप में उपासना करने योग्य है अतएव सब की दृष्टि का अधिष्ठाता है।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम
शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः
शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः
शतं भूयश्च शरदः शतात् ।।

यजुर्वेद ३६/४२

अर्थ–देवों के द्वारा स्थापित अथवा देवों के हितस्वरूप शुक्लस्वरुप अर्थात् पाप से असंश्लिष्ट अथवा शोचिष्मत् वे जगत के नेत्रभूत आदित्यदेव पूर्व दिशा में उदय को प्राप्त होते हैं। उनकी कृपा से हम सौ वर्ष पर्यन्त अव्याहत-चक्षु-इन्द्रियवाले बनें, सौ वर्ष पर्यन्त अपराधीन जीवनवाले बनें, सौ वर्ष पर्यन्त अस्खलित वाणीवाले बनें, सौ वर्ष पर्यन्त अ-दीन बनें और सौ वर्ष से भी अधिक काल पर्यन्त देखें, सुने तथा जीवित रहें।

८९. ग्रहण

अधस्तात् सवितुर्योजनायुते स्वर्भानुर्नक्षत्रवच्चरतीत्येके योऽसावमरत्वं ग्रहत्वं चालभत भगवदनुकम्पया स्वयमसुरापसदः सैंहिकेयो ह्यतदर्हस्तस्य तात जन्म कर्माणि चोपरिष्टाद् वक्ष्याम :

श्रीमद्भागवत ५/२४/१

अर्थ – सूर्य के नीचे दस हजार योजन पर राहु ग्रह नक्षत्र की तरह घूमता है, इस प्रकार कुछ विद्वान कहते हैं। यह राहु सिंहिका का पुत्र था, अतः असुर था। इसलिए अमरत्व तथा ग्रहत्व के लिए अयोग्य था। फिर भी भगवान की कृपा से वह अमरत्व तथा ग्रहत्व को प्राप्त हुआ है। राहु के जन्म तथा कर्म अष्टम स्कंध में वर्णित हैं।

यत् त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुर :।
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥
स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूलहं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥

ऋग्वेद ५/४०/५,६

अर्थ – जब स्वर्भानु नामक असुर ने सूर्य को अंधकार से ढँक दिया तब सारा संसार अंधकार से घिर गया, उस समय सूर्यदर्शन न होने के कारण सारे भुवन भ्रान्त से हो गये। जिस तरह अपने गमन स्थान को न जानने वाला मनुष्य भटक जाने के कारण भ्रान्त और मोहित-सा हो हो जाता है, उसी तरह अन्धकार से आवृत सारे भुवन भ्रान्त और मोहित-से हो गए।

जब सूर्य को आच्छादित करने वाले स्वर्भानु के माया भरे अन्धकार ने ढँक लिया, तब सूर्य लोकों को प्रकाशित करने में असमर्थ हो गया। इस प्रकार स्वर्भानु ने सूर्य को अपने कर्तव्य से भ्रष्ट कर दिया तब इन्द्र ने उसकी सहायता की और अन्धकार को दूर किया। तब ज्ञानी विद्वान ने अपने श्रेष्ठतम ज्ञान की सहायता से यही समझा कि सूर्य तो अन्धकार से ढँक गया था, जो अब निकल आया है।

षष्ठः स्कन्धः

९०. जंगलों की रक्षा करें

मा द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुमर्हथ ।
विवर्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः ।।
अहो प्रजापतिपतिर्भगवान् हरिरव्ययः ।
वनस्पतीनोषधिश्च ससर्जोर्जमिषं विभुः ।।

श्रीमद्भागवत ६/४/७,८

अर्थ–हे महाभाग, आप लोग इन गरीब वृक्षों पर द्रोह करें, यह ठीक नहीं है। आप लोग तो प्रजा की विशेष वृद्धि की कामना वाले प्रजाओं के स्वामी हैं।

प्रजापतियों के भी पति अविनाशी और समर्थ भगवान श्रीहरि ने वनस्पतियों तथा औषधियों को प्रजाओं के भक्ष्य (अन्न) के रूप में उत्पन्न किया है।

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः ।
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः ।।

ऋग्वेद १/२४/७

अर्थ–पवित्र कार्य के लिए अपना बल लगाने वाला राजा वरुण वन के स्तंभ को आधार रहित आकाश में ऊपर ही ऊपर धारण करता है। इसकी शाखाएँ नीचे होती हैं। इनका मूल ऊपर है। इसके मध्य में किरणें फैली रहती हैं।

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वाऽइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ।।

यजु. १२/७७

अर्थ–हे औषधियो ! तुम पुष्पों से युक्त और फलोत्पादिका हो। अश्वों के समान वेगवती, अनेक प्रकार की व्याधियों को दूर करने वाली, फल पाकवाली और दीर्घकाल तक कर्म में लगी रहने वाली हो। तुम मोदवती हो। पुरुषों और फलों से सम्पन्न हो।

९१. ईश्वर सर्वज्ञ हैं

देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा
नात्मानमन्यं च विदुः परं यत् ।
सर्वं पुमान् वेद गुणाँश्च तज्ज्ञो
न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे ।।

श्रीमद्भागवत ६/४/२५

अर्थ – देह, प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, पाँच भूत और शब्दादि पाँच विषय उनको प्रकट करने वाली इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता देववर्ग को नहीं जान सकते । किन्तु जीव तो उन तीनों को तथा उन सब के मूल गुणों को भी जानता है । फिर भी वह जीव सर्वज्ञ-अनंत भगवान को नहीं जानता ।

विशं विशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा ।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ।।

ऋग्वेद १०/४३/६

अर्थ – भक्तजनों के कामनामय फलों की वर्षा करने वाला अर्थात् प्राणी और प्राणहीन पदार्थों पर स्वकृत शुभाशुभ कर्मों के फलों की वर्षा करने वाला, सबसे पूजनीय परमात्मा प्रत्येक प्राणी और अप्राणी पदार्थों के मध्य में शयन अर्थात् निवास करता है, सब प्राणियों के कर्म देखता है, सब की स्तुति-निन्दात्मक वाणी सुनता है और सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा इस मनुष्य के सायं, मध्याह्न और प्रातः काल के यज्ञात्मक कर्मों में रमण करता है अर्थात् परमात्मा मनुष्यों के त्रैकालिक कर्मों को देखता है। वह कर्मकर्ता मुमुक्षुजन अपने अति शुभ कर्मों से काम-क्रोध-लोभात्मक शत्रु-सेनाओं के प्रहार को सहन करता है अर्थात् काम-क्रोध-लोभादि के प्रभाव को दबा देता है ।

९२. ईश्वर इन्द्रियातीत है

यदोपरामो मनसो नामरूप–
रूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात् ।
य ईषते केवलया स्वसंस्थया
हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ।।

श्रीमद्भागवत ६/४/२६

अर्थ – जिस समय दृश्य का दर्शन तथा स्मरण नष्ट होने से नाम और रूप बताने वाला मन समाधिदशा में एकाग्र होता है तब जो भगवान मात्र स्वरूप ज्ञान से जाने जाते हैं उन शुद्ध स्वरूप और शुद्ध मनरूपी स्थान वाले परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।।

कठोपनिषद् १/३/१२

अर्थ – **संपूर्ण** भूतों में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमान नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है।

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कं स्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ।।

ऋग्वेद १०/८२/५

अर्थ – जो आत्मा इस स्थूल देह से भिन्न और श्रेष्ठ है और चक्षु आदि इन्द्रियों से भी भिन्न और श्रेष्ठ है, प्राण अपानादि वायु तथा पंच तन्मात्राओं से भी भिन्न और सूक्ष्म है, जो आत्मा सर्वत्र प्रकाशमय विद्युत् आदि सूक्ष्म अग्नियों से भी अत्युत्कृष्ट और भिन्न है अर्थात् जो आत्मा सब पदार्थों से भिन्न, सूक्ष्म और श्रेष्ठ है, प्राणों ने अथवा जलों ने फिर किसे गर्भ की भांति अर्थात् मध्य केंद्र की भांति सबके ग्राहक तत्व को पहले पहल धारण किया ? सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए सब ज्ञानी लोग मध्य में प्राप्त जिस आत्मतत्व में आपस मे भली-भाँति मिलकर देखते हैं।

९३. ईश्वर केवल बुद्धिग्राह्य है

मनीषिणोऽन्तर्हृदि संनिवेशितं
स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भिः ।
वह्निं यथा दारुणि पाञ्चदश्यं
मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम् ॥

श्रीमद्भागवत ६/४/२७

अर्थ – जिस प्रकार याज्ञिक ब्राह्मण अरणि-काष्ठ में गूढ़ रहे हुए और समिधों के पन्द्रह मंत्रों से प्रकाशित करने योग्य अलौकिक अग्नि को मंथन करके बाहर निकालते हैं उसी प्रकार विवेकी पुरुष प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार, पाँचतन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच भूत आदि की त्रिगुणात्मिका शक्तियों से ढँके हुए परमात्मा को उन तत्त्वों से अलग रूप में ध्यान करते हैं ।

देवो न यः सविता सत्यमन्मा क्रत्वा निपाति वृजनानि विश्वा ।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेवो दिधिषाय्यो भूत् ॥

ऋग्वेद १/७३/२

अर्थ–विशुद्धबुद्धि और मन तथा इंद्रियों को वश में रखने वाला, ब्रह्मज्योति से प्रकाशमान स्थावर-जंगम पदार्थों के प्राणदाता सूर्य के समान, और यथार्थज्ञानी अथवा सत्यस्वरूप ब्रह्म में मन लगानेवाला जो मनुष्य अपने निष्काम कर्म द्वारा अर्थात् फलाकांक्षा से रहित नित्य-नैमित्तिक कर्मों द्वारा अहंकार-बल-दर्प-क्रोध-काम-परिग्रह-स्वरूप सब पापों को दूर कर देता है (अथवा ज्ञानी मनुष्य काम-क्रोधादि सब पापों से अपने आपको भलीभाँति सुरक्षित रखता है) और बहुत मनुष्यों में से श्रेष्ठ अथवा बहुत मनुष्यों से प्रशंसा किया हुआ, बहुत मनुष्यों से प्रशंसनीय, मानों मूर्तिमान् सत्य का स्वरुप, सबका सुखदाता अर्थात् सुखस्वरूप, परमप्रेमास्पद भाव से अत्यन्त आनन्दस्वरूप समान आत्मा-वाला यह ज्ञानी मनुष्य शुभ कर्म द्वारा शुभस्थान अर्थात् मुक्तिधाम में धारण करने योग्य होता है अर्थात् निष्काम कर्म करने वाला ज्ञानी मनुष्य मुक्त हो जाता है ।

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानंग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ।।
अथर्ववेद २/३४/३

अर्थ – शुद्ध बुद्धि, वाणी, शरीर और मन को वश में रखने वाले, परमात्मा का स्मरण और उसमें योगसमाधि लगाने वाले और और सर्वत्र विश्वरुप परमात्मा को देखने वाले जो ज्ञानी मनुष्य काम, क्रोध लोभ, मोह, अहंकार, दर्पादि दुर्गुणों से बाँधे गये प्राणी को दयादृष्टि से ध्यान करते हुए शुद्ध मन से और दयादृष्टि से पूर्णतया देखते हैं अर्थात् काम-क्रोधादि से बंधे हुए संसारी जीवों के ऊपर उनके उद्धार के लिए ज्ञानीजनों की स्नेहदृष्टि पड़ती है। ज्ञानी मनुष्यों का विचार रहता है कि ये बद्ध मनुष्य भी किसी प्रकार से मुक्त हो जावें तो उत्तम हो। सारे संसार को प्रकट करने वाला अर्थात् विश्व का कर्ता, सबका प्रकाशक दिव्य गुणोंवाला, सारी दृष्टि का अग्रणी अर्थात् नेता परमात्मा, अपनी सृष्टि के साथ रमण करता हुआ अर्थात् सृष्टि में व्यापक रूप होकर काम-क्रोध-लोभादि दुर्गुणों से रहित इन्द्रियों और मन को वश में रखने वाले उन ज्ञानियों को और अपने भक्तों को मुख्यता में अथवा सबसे प्रथम संसारबंधन से छुड़ाकर मुक्ति प्रदान करें।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वैतम् ।।
अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वैतत् ।।
कठोपनिषद् २/१/१२,१३

अर्थ – जो अंगुष्ठ-परिमाण पुरुष शरीर के मध्य में स्थित है उसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान का शासक जानकर वह उस (आत्मा के ज्ञान) के कारण अपने शरीर की रक्षा करना नहीं चाहता, निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है।

यह अंगुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योति के समान है। यह भूत-भविष्यत् का शासक है। यही आज (वर्तमानकाल में) है और यही कल (भविष्यत् में) भी रहेगा। और निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है।

९४. ईश्वर-ब्रह्मदर्शन

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै
यद् यो यथा कुरुते कार्यते च ।
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं
तद् ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ॥

श्रीमद्भागवत ६/४/३०

अर्थ – जिसके अन्दर यह जगत् रहा हुआ है, जिससे और जिस साधन से यह जगत् उत्पन्न होता है, जिसके सम्बंध में यह जगत् रहा हुआ है, जिसको उद्देश्य कर जो बलिदान आदि दिये जाते हैं, जो स्वतंत्र कर्ता करता है और जो प्रयोजक कर्ता अन्य के द्वारा करवाता है, वह ब्रह्म है क्योंकि वह ब्रह्म सर्व का कारण, सबके पहले प्रसिद्ध, पर प्रकृति-पुरुष आदि का तथा अपर ब्रह्म आदि का भी परम कारण, विजातीय सजातीय भेद से भी रहित है।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वैतत् ॥

कठोपनिषद् २/१/३

अर्थ – जिस आत्मा के द्वारा मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुनजन्य सुखों को निश्चयपूर्वक जानता है (उस आत्मा से अविज्ञेय) इस लोक में और क्या रह जाता है । वह तत्त्व निश्चय यही है।

९५. क्षेत्रज्ञ-आत्मा

भूः क्षेत्रं जीवसंज्ञं यदनादि निजबन्धनम् ।
अदृष्टवा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥

श्रीमद्भागवत ६/५/११

अर्थ – जीव नामक लिंग शरीर ही पृथ्वी है, जो अनादि होने से आत्मा के बंधन का कारण बनता है। उसको नष्ट किये बिना मोक्ष के लिए अनुपयोगी कर्म करने से क्या लाभ हो सकता है ?

अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स पैति क्षेत्रविदानुशिष्ट : ।
एतद्वैभद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम् ।।

यजुर्वेद १०/३२/७

अर्थ – जिसके द्वारा गति होती है, या जिसमें आत्मा निवास करता है ऐसे क्षेत्र अर्थात् देह को जो जानता है उसे 'क्षेत्रवित्' कहते हैं। जो देह के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता वह अक्षेत्रवित् अर्थात् अज्ञानी मनुष्य देह के वास्तविक स्वरूप के जानने वाले ज्ञानी पुरुष से निश्चयपूर्वक पूछता है। वह अज्ञानी पुरुष क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मतत्त्व के ज्ञाता से, 'देह क्षेत्र है और उसमें रहने वाला आत्मा क्षेत्रज्ञ है' ऐसी शिक्षा को प्राप्त करके स्वाभिलषित पद अर्थात् आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है। क्षेत्र नाशवान् है और क्षेत्रज्ञ आत्मा अविनश्वर है, इस उपदेश का निश्चय से यहाँ कथन, कल्याणरूप और इसके अनुसार जीव सुपथ पर चलने वाले प्राणियों के मार्ग को पाता है।

९६. दधीचि-दध्यंगाथर्वण

स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम् ।
यद् वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ।।

श्रीमद्भागवत ६/९/५२

अर्थ – दधीचि शुद्ध ब्रह्म के ज्ञाता हैं। उन्होंने अश्वशिरस् नामक ब्रह्मज्ञान का दोनों अश्विनीकुमारों को उपदेश किया था, जिसने उन दोनों को जीवन्मुक्त किया है।

तद् वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् ।
दध्यङः ह यन्मध्वाथर्वणोवामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच ।।

ऋग्वेद १/११६/१२

अर्थ – अथर्वकुल में उत्पन्न दधीचि ऋषि ने घोड़े का सिर धारण करके तुम दोनों को मधुविद्या पढ़ायी। इस विषय में जो तुमने कार्य किया वह सचमुच भयानक ही कार्य था, जिस तरह मेघ गर्जना करके वृष्टि की सूचना देता है, उस तरह घोषणा करके मैं उस तुम्हारे कर्म का प्रचार करता हूँ। इससे मुझसे जनसेवा हो यही मेरी इच्छा है। पृथ्वी,

जल, तेज, वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्रमा, विद्युत्, मेघ, आकाश, धर्म, सत्य, आत्मा (जीव) इसमें जो तेजस्विता है वही अमृत पुरुष है और वही सबकुछ है, ऐसा कहा है । एक ही आत्मतत्त्व का ज्ञान 'मधुविद्या' नाम से प्रसिद्ध है । दधीचि ऋषि ने यह विद्या अश्विदेवों को पढ़ाई । इस विद्या के जानने से वैदिक तत्त्वज्ञान विदित हो सकता है । इस विद्या का साक्षात्कार दधीचि ऋषि ने स्वयं किया और उस ऋषि ने अश्विदेवों को यह विद्या सिखाई ।

आथर्वणायाश्विना दीधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् ।
स वां मधु प्र वोचहतायन् त्वाष्ट्रं यद् दस्त्रावपिकक्ष्यं वाम् ।।

ऋग्वेद १/११७/२२

अर्थ – अश्विदेवों ने अथर्वकुल में उत्पन्न दधीचि ऋषि के घोड़े का सिर लगा दिया, तब उसने उनको, यज्ञमार्ग के प्रचार के उद्देश्य से मधु विद्या का उपदेश दिया और टूटे अवयवों को जोड़ने की विद्या भी सिखाई ।

९७. नारायण-कवच

भगवंस्तन्ममाख्याहि वर्म नारायणात्मकम् ।
यथाऽऽततायिनः शत्रून् येन गुप्तोऽजयन्मृधे ।।

श्रीमद्भागवत ६/८/२

अर्थ – (परीक्षित बोले) हे भगवन्, आप मुझे वह वैष्णवी विद्या (नारायण-कवच) कहिए कि जिससे सुरक्षित बने हुए इन्द्र ने युद्ध में उसको मारने के लिए तत्पर शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी ।

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजाऽमृतेनानुवस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वा नु देवा मदन्तु ।।

यजुर्वेद १७/४९

अर्थ – हे वीर, तेरे मर्मस्थलों को देहरक्षा करने वाले कवच द्वारा आवृत करता हूँ । शान्तिपूर्वक एवं विद्या, न्याय तथा विनय से प्रकाशित राजा सब रोगों को दूर करने वाली अमृतरूपी औषधि के द्वारा तुम्हें पीछे

से आवृत करे । सर्वोत्तम गुणवाला राजा तेरे अनेक गुणों-ऐश्वर्यों से अतिशय ऐश्वर्य को प्राप्त करे और दुष्टों को परास्त करने के लिए विद्वान् लोग तुम्हें प्रोत्साहित करें ।

अथवा

(हे यजमान ! मैं तुम्हारे मर्मस्थान को कवच से ढँकता हूँ । राजा सोम तुम्हें मृत्यु से निवारण करने वाले वर्म से ढँके और वरुण तुम्हारे कवच को वरिष्ठ बनावे । अन्य सब देवता तुम्हारी विजय से सहमत हों ।)

९८. ईश्वर-दह्रनिलय

हंसाय दह्रनिलयाय निरीक्षकाय
कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय ।
सत्संग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्ता–
वन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते ।।

श्रीमद्भागवत ६/९/४५

अर्थ – हे ईश्वर, आप शुद्ध, हृदयाकाश में रहनेवाले, बुद्धि आदि के साक्षी, सदा आनंदस्वरूप, रुचिकर यशवाले, अनादि, सज्जनों द्वारा स्वीकारने योग्य, संसार-मार्ग के मुसाफिर मनुष्य को (अपना) शरण प्राप्त होने पर सर्वोत्तम गति देनेवाले और सब प्रकार की पीड़ा दूर करनेवाले हैं । आपको हम नमस्कार करते हैं ।

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा ।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ।।

ऋग्वेद १०/४३/६

अर्थ – भक्तजनों के कामनामय फलों की वर्षा करनेवाला अर्थात् प्राणी और प्राणहीन पदार्थों पर स्वकृत शुभाशुभ कर्मों के फलों की वर्षा करनेवाला, सबसे पूजनीय परमात्मा, प्रत्येक प्राणी और अप्राणी पदार्थ के मध्य में शयन अर्थात् निवास करता है । सब प्राणियों के कर्म देखता है, सबकी स्तुति-निन्दात्मक वाणी सुनता है और सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा जिस मनुष्य के ही सायं, मध्याह्न और प्रातःकाल के यज्ञात्मक कर्मों में

रमण करता है अर्थात् परमात्मा मनुष्यों के त्रैकालिक कर्मों को देखता है। वह कर्मकर्ता मुमुक्षुजन अपने अति शुभ कर्मों से काम-क्रोध-लोभात्मक शत्रु-सेनाओं के प्रहार को सहन करता है अर्थात् काम-क्रोध-लोभादि के प्रभाव को दबा देता है।

९९. अविवेक से देह-देही की भिन्नता का आभास

देहदेहिविभागोऽयमविवेककृतः पुरा ।
जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः ।।

श्रीमद्भागवत ६/१५/८

अर्थ – जिस प्रकार जाति और व्यक्ति का विभाग (एक ही) सद्रूप वस्तु में कल्पित है उसी प्रकार यह देह और देही (आत्मा) का विभाग भी अनादि काल का मात्र अज्ञान से ही एक सद्रूप वस्तु में किया हुआ है। (अर्थात् शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध केवल अज्ञान से ही माना गया है। आत्मा तो नित्य है।)

आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि ।
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यतेऽति विश्वं ववक्षिथ

ऋग्वेद १/८१/५

अर्थ – हे जीवात्मन्! तू पृथिवी के विकारवाले लोक अर्थात् देह को भरपूर करता है अर्थात् देह का स्वामी होकर रहता है और हृदयाकाश में प्रकाशमान विवेक को बाँधता है अर्थात् हृदय में विवेचनात्मक ज्ञान को धारण करता है। हे आत्मन्! तुझ जैसा और कोई भी नहीं है। न तेरे जैसा कोई उत्पन्न है, न ही कोई पदार्थ उत्पन्न होगा। जब आत्मा की उत्पत्ति नहीं है तब उसकी मृत्यु क्यों होगी। इसलिए तू नित्य होता हुआ सारे देह को अत्यधिक उठाये हुए है। इसलिए आत्माको अज और नित्य मानना चाहिए।

१००. आत्मस्वरूप

एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् ।
आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजति प्रभुः ।।

श्रीमद्भागवत ६/१६/९

अर्थ – यह जीव नित्य, अविकारी और सूक्ष्म है, जन्मादि से रहित है और जन्मादि धारण करनेवाले देहादि का आश्रयरूप है, किन्तु देहादिरूप नहीं है और स्वयंप्रकाश है ।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥

ऋग्वेद १/१६४/१३

अर्थ – पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, या पञ्च कर्मेन्द्रियों, या पञ्च महाभूतों के आरोंवाले, चक्कर लगानेवाले या भ्रमणशील, पुनः पुनः परिवर्तित होनेवाले, उस देह-चक्र में सारे प्राणिमात्र रहते हैं। उस चक्र के मध्य में रहनेवाला यह जीवात्मा न क्षय होनेवाला तथा सकल भारी देह के उठाने से बहुत भारवाला होने के कारण दाह-क्लेशादि से पीड़ित नहीं होता और यह आत्मा सदा से ही एकरस चला आ रहा है, अतः इसे सनातन कहते हैं । इसलिए ही सर्वदा एकरूप नाभिवाला यह आत्मा नहीं टूटता । जैसे रथ के आरे भार से टूट जाते हैं और अक्ष के नाश होने से रथ की नाभि या मध्यभाग भी मुड़ जाता या टूट जाता है वैसे यह आत्मा देहरूपी चक्र-के चीरे जाने पर जल से गीले होने पर या अग्नि से जल जाने पर भी न चीरा जाता है, न गीला होता है और न जलता है । इसलिए आत्मा नित्य और देह अनित्य है ।[1]

१०१. तीनों कालों व अवस्थाओं में एक स्वरूप ईश्वर

परमाणु परमहतो–
स्त्वमाद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः ।
आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां
यद् ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि ॥

श्रीमद्भागवत ६/१६/३६

अर्थ – जो परमाणु अर्थात् सूक्ष्म मूल कारण है और जो परम महान् अर्थात् अन्तिम महान् कार्य है, उन दोनों के आदि, मध्य तथा अन्त में

---

[1] विशेष के लिए देखिए–नारायणाथर्वशीर्ष ।

रहनेवाले आप ही हैं। अतएव आप इन तीनों (आदि, मध्य अन्त) से रहित हैं।जो वस्तु विद्यमान के रूप में मालूम पड़नेवाले कार्यों के आदि, अन्त तथा मध्य में भी उसी प्रकार अचल रहे, वही 'ध्रुव' कहलाता है।

अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः ।
शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ॥

श्रीमद्भागवत ६/१६/५१

अर्थ – मैं सर्व प्राणिरूप हूँ, अतएव प्राणिमात्र का आत्मा (भोक्ता) भी हूँ। अर्थात् भोक्ता तथा भोग्यरूप यह जगत् मुझसे भिन्न नहीं है, क्योंकि मैं प्राणिमात्र का प्रकाशक और कारण हूँ तथा शब्दब्रह्म का प्रकाशक वेद और परब्रह्म (कारण) ये दोनों मेरे शाश्वत शरीर हैं।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

मुण्डकोपनिषद् २/१/२,३

अर्थ – (यह अक्षर ब्रह्म) निश्चय ही दिव्य, अमूर्त, पुरुष, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवं श्रेष्ठ अक्षर से भी उत्कृष्ट है।

इस (अक्षर पुरुष) से ही प्राण उत्पन्न होता है तथा इससे ही मन, संपूर्ण इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सारे संसार को धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है।

१०२. वासना के प्रकार और मूल स्रोत

कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं
प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत् ।
य एष राजन्नपि काल ईशिता
सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यतः ॥

तत्प्रत्यनीकानसुरान् सुरप्रियो
रजस्तमस्कान् प्रमिणोत्युरुश्रवा: ।।

श्रीमद्भागवत ७/१/११

अर्थ – हे राजन्, अमोघ कर्ता ईश्वर प्रकृति और पुरुष के निमित्त से उस प्रकृति तथा पुरुष के सहकार से आश्रयरूप वर्तमान काल का स्वयं सृजन करते हैं। अर्थात् काल भी भगवान की एक चेष्टा है, अत: भगवान काल के भी अधीन नहीं है। हे राजन् यह काल सत्त्वगुण में वृद्धि करता है। अत: (उसके अधिष्ठाता) ईश्वर भी सत्त्वगुणप्रधान देहसमूह की वृद्धि करते हों, ऐसा लगता है और देवों के प्रिय एवं महान् कीर्तिवाले वे भगवान देवों के शत्रु तथा रजोगुण और तमोगुण से युक्त असुरों का मानो नाश कर रहे हों, ऐसा लगता है।

अपाङ प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनि: ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ।।

ऋग्वेद १/१६४/३८

अर्थ – मरणधर्मरहित जीवात्मा विकारवती प्रकृति अर्थात् प्रकृति के कार्य देह को अपना घर बनाकर रहता है। ऐसा देहस्थ जीवात्मा देह को धारण करनेवाले अन्नादि खाद्य पदार्थों से गृहीत होकर नीच योनि को प्राप्त होता है। उत्तम कर्म करने से स्वर्गादि सुखकारक उच्च योनि को प्राप्त होता है। सत्त्वरजस्तमोगुणों के आधार पर भिन्न कर्म करके भिन्न-भिन्न उच्च-नीच योनियों में जन्म लेता है। वे पुरुष-प्रकृति नित्य अविभाग से सदा वर्तते हुए लोक-लोकान्तरों में गमन करते हुए भिन्न-भिन्न कृत-कर्मों के फल भोगने के लिए भिन्न-भिन्न उच्च-नीच योनियों में जाते हैं। विवेकी पुरुष भूतात्मा अर्थात् प्रकृति को विशेष करके विकृतिवाली जानते हैं। मूढ पुरुष देह से भिन्न अन्य आत्मा को नहीं जानते अर्थात् मूढ यह जानते हैं कि कर्ता-भोक्ता देह ही है, देह से भिन्न कोई वस्तु नहीं है परन्तु ज्ञानी यह जानते हैं कि जीवात्मा विनश्वर देह से भिन्न और नित्य है।

बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्ट: ।।

श्वे. उ. ५/८

अर्थ – चाबुक के सिरे के अग्रभाग के समान अर्थात् बिन्दुमात्र आकारवाला वह बुद्धि या आत्मा के गुण ज्ञान से देख लिया गया है ।

१०३. आत्मस्वरूप

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित्परः ।
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन्गुणान् ॥
श्रीमद्भागवत ७/२/२२

अर्थ – (तात्त्विक दृष्टि से) आत्मा नित्य (मृत्युशून्य), अव्यय (अपक्षय रहित), शुद्ध, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और देहादि से भिन्न है । अतः 'वह मर गया, कृश हुआ, मलिन है, वियोगी है और अज्ञानी है' ऐसा मानकर शोक न करना चाहिए । आत्मा अपने अज्ञान से ऊँचा-नीचा शरीर धारण करता है और सुख-दुःख आदि धर्मों का (वे देह के होने पर भी 'मेरे हैं' इस प्रकार) स्वीकर करता है ।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सना देव न शीर्यते सनाभिः ॥
ऋग्वेद १/१६४/१३

अर्थ–पञ्च ज्ञानेन्द्रियों या पञ्च कर्मेन्द्रियों या पञ्च महाभूतों के आरोंवाले, चक्कर लगानेवाले या भ्रमणशील, पुनः पुनः परिवर्तित होनेवाले उस देह-चक्र में सारे प्राणिमात्र रहते हैं । उस चक्र के मध्य में रहनेवाला यह जीवात्मा न क्षय होनेवाला तथा सकल भारी देह के उठाने से बहुत भारवाला होने के कारण दाह-क्लेशादि से पीड़ित नहीं होता और यह आत्मा सदा से ही एकरस चला आ रहा है, अतः इसे सनातन कहते हैं । इसलिए ही सर्वदा एकरूप नाभिवाला यह आत्मा नहीं टूटता । जैसे रथ के आरे भार से टूट जाते हैं और अक्ष के नाश होने से रथ की नाभि या मध्यभाग भी मुड जाता या टूट जाता है वैसे यह आत्मा देहरूपी चक्र के चीरे जाने पर, जल से गीले होने पर या अग्नि से जल जाने पर भी न चीरा जाता है, न गीला होता है और न जलता है, इसलिए आत्मा नित्य और देह अनित्य है ।

१०४. सर्वव्यापक ईश्वर

परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्त स्थावरादिषु ।
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च ॥
गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा ।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥
प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम् ॥
व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः ::

श्रीमद्भागवत ७/६/२०-२२

अर्थ – स्थावर से लेकर ब्रह्मा तक छोटे-बड़े सब प्राणियों में पाँच भूतों के विकाररूप निर्जीव पदार्थों में, आकाशादि पंच महाभूतों में, सत्त्वादि तीन गुणों में, गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति में तथा गुणों की विषम अवस्थारूप महत् तत्त्वादि में एक ही अविनाशी ईश्वर रहे हुए हैं। वे परमेश्वर वास्तव में कल्पना में भी न आनेवाले एवं अनिर्देश्य हैं, तथापि माया के कारण द्रष्टा तथा भोक्ता के रूप में व्यापकता से और दृश्य तथा भोग्य-देहादि रूप में व्याप्यत्व से दर्शाये जा सकते हैं।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

यजुर्वेद ४०/१

अर्थ – इस संसार में जो कुछ विद्यमान है वह सब ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर की दी हुई वस्तुओं का त्यागभाव से उपयोग करें। किसी की वस्तु अन्यथा ग्रहण न करें।

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥

अथर्ववेद १३/२/२६

अर्थ – परब्रह्म चारों ओर मुखोंवाला, चारों ओर हाथवाला और चारों ओर पैरोंवाला है। यह परमात्मा चारों ओर देखता है अर्थात् सर्वद्रष्टा या विश्व को वश में रखनेवाला है, अपनी मायाशक्ति से सर्वत्र पतनशील व्याप्ति से आकाश और पृथिवी को अपनी चेतना शक्ति से पूर्ण कर देता है। एक ही परमात्मा सारे विश्व का उत्पादक है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

कठ उ. १/३/१५

अर्थ – जो ब्रह्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित है अर्थात् सब इन्द्रियों से रहित है परन्तु सब इन्द्रियों के गुणों में उसका आभास है, वह परब्रह्म अव्यय अर्थात् विकार से रहित है।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।

कठ उ. १/३/२१

अर्थ – जो परमात्मा शरीरों में स्थित होकर भी शरीर-रहित है।

१०५. रसात्मक प्रभु

केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः ।
माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया ॥

श्रीमद्भागवत ७/६/२३

अर्थ – भगवान का स्वरूप केवल अनुभवात्मक आनंदरूप ही है, फिर भी, जिससे गुणात्मक सृष्टि उत्पन्न होती है उस माया से अपने ऐश्वर्य को वे ढँक लेते हैं।

रसो वै सः। तै. उ. २,७.१

१०६. आत्मा व परमात्मा के लक्षण

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः ।
अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः ॥

श्रीमद्भागवत ७/७/१९

अर्थ – आत्मा नित्य, क्षयरहित, शुद्ध, एक, शरीरादि का ज्ञाता, सर्वका आश्रयरूप, विकाररहित, स्वयंप्रकाश, सर्व का कारणरूप, व्यापक, सर्व संग से मुक्त और किसी भी प्रकार के आवरण से रहित है।*

---

* इस श्लोक में आये हुए 'आत्मा' संबंधी शब्दों का श्रुति-समर्थन:

१. **नित्यः**–अविनाशी वा अयमात्मा।
२. **अव्ययः**–ऋचे अक्षरे परमे व्योमन्।
३. **शुद्धः**–निरवद्यं निरञ्जनम्।
४. **एक** : एकमेवाद्वितीयम्।
५-६. **अविक्रियः**, **शान्तः**–निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्।
७. **आश्रयः**–यस्मिन् द्यौः पृथिवी।
८. **हेतुः**–स इमाँल्लोकान् सृजते।
९. **व्यापकः**–सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।
१०. **अनावृतः**, **पूर्णः**–पूर्णमदः पूर्णमिदम।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥

केनोपनिषद् १/३

अर्थ– वहाँ (उस ब्रह्म तक) नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता । अत: जिस प्रकार शिष्य को इस ब्रह्म का उपदेश करना चाहिए, वह हम नहीं जानते–यह हमारी समझ में नहीं आता । वह विदित से अन्य ही है तथा अविदित से भी परे है, ऐसा हमने पूर्व पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया था ।

१०७. प्रकृति के विकारों में निर्विकारी आत्मा

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्तास्त्रय एव हि तद्गुणाः ।
विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात् ॥

श्रीमद्भागवत ७/७/२२

अर्थ– कपिल आदि आचार्य कहते हैं कि प्रकृतियाँ (मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ–इस प्रकार) आठ हैं। उनके गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्–इस प्रकार) तीन हैं । विकार (ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच भूत–इस प्रकार) सोलह हैं तथा पुरुष-आत्मा एक ही हैं; क्योंकि वह उनमें साक्षीरूप से रहा हुआ है ।

मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति : पुरुषः ॥

सांख्यकारिका

अर्थ– प्रकृति मूल पदार्थ है, वह किसी का विकार नहीं है । महत् आदि सात (महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ) प्रकृति के विकार हैं । ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच भूत–ये सोलह विकार हैं । पुरुष न तो किसी की प्रकृति ही है और न विकृति ।

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥

अथर्ववेद ८/९/२१

अर्थ – हे जीवात्मन् ! सत्य स्वरूप परब्रह्म की, सर्वप्रथम उत्पन्न, भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार, इन आठ संख्या वाली, भावरूप अर्थात् कार्यरूप प्रकृतियाँ प्रकट हुईं, जो प्रकाशात्मक, जगन्मय यज्ञ करनेवाली ऋत्विग्रूप है । जो प्रकृति पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठों का मूल कारण है, खण्डन न होने योग्य अर्थात् नित्य है और पृथिवी आदि स्थूल पदार्थ जिसके पुत्ररूप हैं ऐसी अपरा नामवाली प्रकृति अपने लयस्वरूप भोजन को प्राप्त होती हैं ।

अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम् ।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा ॥

अथर्ववेद १३/३/१९

अर्थ – उग्ररूप अर्थात् पापियों को कठोर दंड देनेवाला; इन्द्रियों, उनके विषयों तथा ज्ञानी पुरुषों का पालक, बुद्धियों का उत्पादक, समग्र संसार को उठानेवाला परमात्मा; भूमि, वायु, जल, आकाश, तेज, मन, बुद्धि, अहंकार–इन आठ भेदोंवाली अपरा प्रकृति से युक्त होकर संसार में चलता है । मन से सब प्राणियों को संकल्प-कल्पना से जगद्रूप यज्ञ के तन्तु के विस्तार को नापता हुआ अन्तरिक्ष में भी वास करनेवाला वह सब दिशाओं में गति करता है ।

१०८. माया से मन और मन से संसार

माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः
कालेन नोदितगुणानुमतेन पुंसः ।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं
संसारचक्रमज कोऽतितरेत् त्वदन्यः ॥

श्रीमद्भागवत ७/९/२१

अर्थ – भगवान के अंशरूप पुरुष की अनुमति से काल द्वारा गुणों में क्षोभ होने पर माया मनः प्रधान लिंग शरीर का निर्माण करती है । यह लिंग शरीर बलवान, कर्ममय तथा अनेक नाम-रूपों में आसक्त अर्थात् छंदोमय है । यही अविद्या द्वारा कल्पित मन, दस इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ–इन सोलह विकाररूप आरों से युक्त संसारचक्र है । ऐसे संसारचक्ररूपी मनःप्रधान लिंगदेह को भगवान का भजन न करनेवाला पुरुष उल्लंघित नहीं कर सकता ।

एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत् त्वम्
आद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं
नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः

श्रीमदभागवत ७/९/३०

अर्थ – यह समग्र जगत् केवल एक आप (भगवान) ही हैं, क्योंकि इस जगत के आदि और अंत में मात्र सत्, कारण और अवधि के रूप में आप ही रहते हैं । इसलिए जगत के मध्य में भी आप ही हैं, फिर भी अपनी माया से गुणों के परिणामरूप इस जगत का सृजन कर आप उसमें प्रवेश करते हैं और उन गुणों के कारण मानो आप रक्षक तथा नाशक हों इस तरह अनेक स्वरूप में मालूम पड़ते हैं ।

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ।।

अथर्व. ३/१०/४

अर्थ – यह भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार रूपों से अष्टविध अपरा नामवाली प्रकृति ही वह है जो सृष्टि के आदि में ही पहले प्रकट होकर सब स्थानों में फैली । इन प्रकृतियों में दूसरी जीवभूत परा प्रकृति प्रविष्ट होकर संसार को धारण किये हुए विचरती है । इस प्रकृति के भीतर बड़ी-बड़ी महिमाएँ हैं । यह प्रकृति नूतन कुलवधू की भाँति अपने-अपने कर्मों से अभिनव जन्म को पाकर, शुभाशुभ कर्मों को उत्पन्न करती हुई सब पर विजय करती है अर्थात् जीवरूप प्रकृति ही सारे जन्गमय शरीर को धारण करती है ।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति ।
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ।

तै. उ. ३/१/१

अर्थ – जिससे ये भूत अर्थात् जड़-चेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए पदार्थ जिससे पाले जाते हैं और जिसमें जाकर फिर प्रवेश कर जाते हैं, उसी को जान । वही ब्रह्म है ।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।
तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ।

यही आशय निम्नलिखित श्लोक में दर्शाया गया है—

अजन्मा सर्वेषामधिपतिरमेयोऽपि जगता-
मधिष्ठाय स्वीयां प्रकृतिमिव चेतः स्फुरति यः ।
विनष्टं कालेन द्विविधममृतं धर्ममपरं
पुनः ब्राहेशं तं विमलशुभदं नौमि परमम् ।।

नेव हि सत् मनो नेवासत् । श. ब्रा. १०/५/३

१०९. अहिंसा, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय से समानदृष्टि

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ।।
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ।।
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ।।
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ।।
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ।।

श्रीमद्भागवत ७/११/८-१२

अर्थ– सत्य, दया, तप, बाहर-अंदर की पवित्रता, सहनशीलता, योग्य-अयोग्य का विचार, मानसिक संयम, इन्द्रिय-संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, महापुरुषों की सेवा, सांसारिक सुख-भोगों की इच्छाओं से क्रमशः उपराम, मनुष्यों की निष्फल क्रियाओं का विचार, व्यर्थ न बोलना, 'आत्मा देहादि से भिन्न है' ऐसा नित्य चिंतन, अपने अन्नादि भोग्य पदार्थों में से अन्य प्राणियों को योग्य हिस्सा देना, 'सब प्राणियों में आत्मारूप देव बिराजते हैं' ऐसी बुद्धि रखना–विशेषतः मनुष्यों में ऐसी बुद्धि रखना, महापुरुषों की गतिरूप श्रीहरि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, नमन, दासता, मित्रता तथा अपने आपको–आत्मा को भगवदर्पण करना–यह तीस लक्षणोंवाला उत्तम धर्म सर्व मनुष्यों के लिए सामान्य है, जिससे हे राजन्, सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं ।

अहिंसा

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः :
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ।।

यजुर्वेद १६/१६

अर्थ– हे रुद्र, तुम हमारे पुत्रों, पौत्रों, जीवन, गौ, अश्वों तथा भृत्यों का वध न करो । हम हवि के साथ तुम्हारा सदैव आह्वान करते हैं ।

सत्य

अग्ने व्रतपते व्रतं चारिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।।

यजुर्वेद १/५

अर्थ – हे अग्नि, मैं सत्य आदि व्रत का आचरण करूँगा । उस व्रत का आचरण करने का सामर्थ्य मुझे प्राप्त हो । मेरा वह व्रत सिद्ध हो । मैं असत्य से निकलकर इस सत्य को प्राप्त करता हूँ ।

***तप**

तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् ।
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा ।।
ऋग्वेद ९/८३/२

अर्थ – पापों के तपाने अर्थात् सुखाने वाले तपस्वी मनुष्य का परम-पवित्र अंग अर्थात् आत्मा द्युलोक के सबसे ऊँचे स्थान में विस्तृत है अर्थात तपस्वी मनुष्य द्युलोक में वास करता है। इस तप के तेजरूपी तन्तु स्वयं प्रकाश करते हुए विविध प्रकार से ठहरते हैं। इस तप के कर्म के शीघ्र गमन करने वाले रस दूसरों को पवित्र करनेवाले यजमानों की रक्षा करते हैं। वे तपस्वी दैवी मनुष्य आत्मस्वरूप चेतना के साथ द्युलोक के उन्नत भाग में अर्थात् मुक्तिधाम में रहते हैं।

***दम-शम-ब्रह्मचर्य**

दमेन दान्ताः किल्बिषम् अवधून्वन्ति दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन् ।
दमो भूतानां दुराधर्षं दमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद् दमं परमं वदन्ति ।।
तै. आ. १०/६३

अर्थ – दम से (इन्द्रियों के निग्रह-काबू से) दान्त हुए (इन्द्रियों को काबू में किये हुए) मनुष्य पाप को झाड़ देते हैं (परे फैंक देते) हैं, दम से ब्रह्मचारी स्वर्ग सुख (स्वास्थ्य सुख) को प्राप्त होते हैं। दम मनुष्यों का दु:सह कर्म है। दम से सब कुछ ठहरा हुआ है (दम में सब कुछ है) इसलिये दम को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं।

शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दन् ।
शमो भूतानां दुराधर्षं शमे सर्व प्रतिष्ठितम्। तस्मात् शमं परमं वदन्ति।
तै. आ. १०/६३

अर्थ – शम से (मन के निग्रह से) शान्त हुए (मन को वश में किये हुए) मनुष्य मंगलरूप (शुभ) आचरण करते हैं। शम से ऋषि

---

* ऋतं तपः सत्यं तप: श्रुतं तप: शान्तं तपो दम: तप: शमस्तप: दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुव: सुव ब्रह्म। एतदुपास्व ।

* पुण्यतममायु: प्रकर्षंकरं जराव्याधिप्रशमनमुर्जस्करममृतं शिवं शरण्यं उदात्तमार्षंब्रह्मचर्यंम् ।

दुःखरहित सुख (ब्रह्म) को प्राप्त होते हैं। शम मनुष्यों का दुःसह कर्म है। शम में सब प्रतिष्ठित हैं। इसलिए शम को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं।

स्वाध्याय

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥

तैत्तिरीयोपनिषद् १/११/१

अर्थ– वेदाध्ययन कराने के अनन्तर आचार्य शिष्य को उपदेश देता है–सत्य बोल। धर्म का आचरण कर। स्वाध्याय से प्रमाद न कर। आचार्य के लिए अभीष्ट धन लाकर उसकी आज्ञा से स्त्री-परिग्रह कर और सन्तान-परम्परा का छेदन न कर। सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए। धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए। कुशल कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए। ऐश्वर्य देने वाले मांगलिक कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद नहीं करना चाहिए।

***समान दृष्टि**

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रं अभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषां जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

ऋग्वेद १०/१९१/३,४ अथर्व. ६-६४-३

११०. इज्या -यज्ञ*

संस्कारा यदविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम्।
इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम्॥
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः॥

श्रीमद्भागवत ७/११/१३

---

* ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्। (अथर्व.)

* गायत्र्या ब्राह्मणं त्रिष्टुभा राजन्यं जगन्या वैश्यम्। (शि.)

अर्थ – जिस वंश में मंत्रयुक्त गर्भाधानादि संस्कार अविच्छिन्न परंपरा से किये जाते हैं, उन्हें 'द्विज' कहते हैं। द्विज को ही ब्रह्मा ने ऐसे संस्कारों के लिए योग्य कहा है। ये द्विज जो जन्म तथा कर्म से शुद्ध हों तो उन्हें यज्ञ, वेदाध्ययन, दान और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में कही हुई क्रियाएँ करने के लिए शास्त्र ने कहा है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

यजुर्वेद ३१/१६

अर्थ – देवों ने यथोक्त मानस-संकल्प रूप यज्ञ से यज्ञस्वरूप प्रजापति का पूजन किया। उससे जगद्रूप विकारों के धारक मुख्य भूत-प्राणि उत्पन्न हुए। जिस विराट-प्राप्तिरूप स्वर्ग में पुरातन विराट उपाधि के उपासक देव स्थित हैं, उस स्वर्ग को ही वे महात्मा प्राप्त करते हैं।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजा अभूम स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम।

यजुर्वेद ९/२१

अर्थ – मेरे आयुष्य की, प्राणवायु की, चक्षुरिन्द्रिय की, श्रोत्रेन्द्रिय की, रथान्तरादिक (शरीर के पृष्ठभाग) की और यज्ञ के अधिष्ठाता की यज्ञ के द्वारा कल्पना अर्थात् वृद्धि हो। हम प्रजापति के अपत्यरूप में उत्पन्न हुए हैं। हे देवो, हम स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं, हम अमर हो गये हैं।

१११. अध्ययन

विप्रस्याध्यनादीनि षडन्य स्याप्रतिग्रहः।
राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः॥

श्रीमद्भागवत ७/११/१४

अर्थ – पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ करवाना, दान लेना और दान देना–यह छः कर्म ब्राह्मणों के कहे गए हैं जब कि दान लेने के सिवाय अन्य

कर्म क्षत्रिय के भी कहे हैं। प्रजा के पालक क्षत्रिय राजा की आजीविका ब्राह्मणेतर लोगों से कर, दंड तथा जकात द्वारा निश्चित की गई है।

एता धियं कृणवामा सखायोऽप या मानाँ ऋणुत व्रजं गोः।
यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम् ।।

ऋग्वेद ५/४५/६

अर्थ – हे मित्रो, आओ। जिस स्तुति से उषा ने किरण या प्रकाश के समूह को उत्पन्न किया, जिस स्तुति की सहायता से मनु ने विशिशिप्र को जीता, जिस स्तुति की सहायता से वंकु वणिक् ने जल प्राप्त किया, उस स्तुति को हम करें।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे।

ऋग्वेद १०/७१/८

अर्थ – जो ब्राह्मण वर्णवाले मनुष्य चित्तवृत्ति से सूक्ष्म से सूक्ष्म आत्म-सम्बन्धी विचार में लाए हुए मन की दौड़-धूप से बचकर शान्ति, संयम, इन्द्रिय-निग्रह के वेगों में समानरूप होकर अर्थात् समदृष्टिवाले होकर संसार में भली प्रकार से यजन करते हैं अर्थात् अपनी जीवन-यात्रा चलाते हैं, इस ब्राह्मण-समुदाय में जानने-योग्य शम-दमादि प्रवृत्तियों में से एक को अर्थात् केवल जन्ममात्र से ब्राह्मण को शम, दम, शान्ति, ज्ञान, विज्ञानों ने छोड़ दिया अर्थात् वह जन्म का ब्राह्मण रहा। कई एक दूसरे सब प्रकार से तर्क द्वारा ब्रह्म अर्थात् वेद-शास्त्र के जाननेवाले ब्राह्मण अर्थात् श्रुति, स्मृति और बुद्धि द्वारा संसार में विचरते हैं।

शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णोः।

ऋग्वेद ७/५६/८

अर्थ –हे ब्राह्मणो ! तुम्हारा शम, दम, तप, शौच, ज्ञान, विज्ञानादि बल शुभ्र अर्थात् निष्कलङ्क है। तुम्हारे मन अशान्ति, अज्ञान, अक्षमता आदि दुर्गुणों पर सदा क्रुद्ध रहते हैं अर्थात् अशान्ति आदि दुर्गुणों को पास तक नहीं फटकने देते। तब शम, दम आदि से विरुद्ध क्रोध की शक्ति का वेग मुनि की भाँति मननपूर्वक कार्य करने लगता है।

११२. व्यापार-वैश्यवृत्ति

सत्यानृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् ।
वर्जयेत् तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः ।।

श्रीमद्भागवत ७/११/२०

अर्थ – जिसमें सत्य-असत्य का व्यवहार करना पड़ता है वह व्यापार 'सत्यासत्य' कहलाता है और नीच की सेवा को 'श्वान-वृत्ति' कहते हैं। यह निंद्य वृत्ति ब्राह्मण तथा राजा को छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय तथा क्षत्रिय सर्व देवमय है।

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ।।
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ।।

अथर्ववेद ३/१५/१,६

अर्थ – मैं वणिक् इन्द्र को प्रेरित करता हूँ। वह हमारे पास आए और हमारा नेता बने। रास्ते में लूट चलानेवाले पाशवी भावना से युक्त शत्रु को दूर करे और मुझे धन दे।

मैं धन के द्वारा धन कमाने की इच्छा करता हूँ। जिस धन से मैं व्यापार करता हूँ उसमें इन्द्र, प्रजापति, सोम, सविता, और अग्निदेव मेरी रुचि को स्थिर करे।

११३. भिन्न-भिन्न धंधे-रोजगारी

वृत्तिः संकरजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत् ।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेऽवसायिनाम् ।।
वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत् ।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात् ।।

श्रीमद्भागवत ७/११/३०,३२

अर्थ – वर्णसंकर जाति के लोगों की अपने कुल में चलनेवाली आजीविका ही जीवन का आधार है। आजीविका के लिए वे चोरी या हिंसा आदि पाप न करें। धोबी, मोची आदि अंत्यज तथा भंगी, मेहतर आदि अंतेवासी लोग भी कुलपरंपरागत आजीविका चलावें। जो मनुष्य सत्त्वादि स्वभाव से निश्चित की गई अपनी आजीविका के अनुसार निर्वाह चलाता है और अपने वर्ण-धर्म के अनुसार कर्म करता है, वह धीरे-धीरे सत्त्वादि स्वभाव से हुए कर्मों का त्यागकर निर्गुणत्व प्राप्त करता है।

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमो नमः।

यजुर्वेद १६/२७

अर्थ – शिल्पकारों, रथकारों, कुम्हारों, लौहकारों, मांसाहारी भिल्लों, पक्षियों की हत्या करनेवाले पुल्कसों, कुत्तों को ले जानेवालों और मृगों की हत्या करनेवाले शिकारियों को नमस्कार। ?

इहेवसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत्।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु॥

अथर्ववेद ३/८/४

अर्थ – हे शूद्रो ! तुम इसी नगर और इसी देश में रहो। क्षत्रियों के समान युद्धभूमि में युद्ध करने के लिए मत जाओ, प्रत्युत युद्ध के समय तुम यहाँ रहकर अस्त्र-शस्त्रादि तथा विस्फोट पदार्थ तैयार करो। इसी प्रकार वैश्यों के समान व्यापार करने के लिए बाहर मत जाओ। यहाँ उनकी यात्रा के लिए शकटादि वाहन तैयार करो। अतः इस देश को छोड़कर दूर देशान्तरों में मत जाओ। खेती करने से अन्नादि पदार्थों का उपजानेवाला, तुम्हारी जीवनयात्रा को शुभ रूप से चलानेवाला गो-सेवक वैश्य तुम्हारे पुष्टिकारक अर्थात् पालन-पोषण करनेवालों का स्वामी क्षत्रियराज अथवा राजा तुम सब को अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सेवकों को ठीक मार्ग पर चलाता है। सब देवता अथवा दैवी गुणवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सब विद्वान् शिल्पीजन अपनी शिल्पकला में पूरे रहें, इसी इच्छा से उनकी इच्छाशक्तियाँ तुम शिल्पियों की ओर प्राप्त हों अर्थात्

शिल्पकला की वृद्धि के लिए धनादि पदार्थों की विशेष आवश्यकता होने पर वे सहायक बने रहें ।

११४. अध्यात्म यज्ञ–
सर्व इन्द्रियों के विषयों को उसी में शान्त करना ।*

सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः ।
मनः संस्पर्शजान् दृष्ट्वा भोगान् स्वप्स्यामि संविशन् ।।
इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान् ।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम् ।।
जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया ।
मृगतृष्णामुपाधावेद् यथान्यत्रार्थदृक् स्वतः ।।
देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः ।
दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः ।।
आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित् ।
मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम् ।
पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानमजितात्मनाम् ।
भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभि विशङ्किनाम् ।।

श्रीमद्भागवत ७/१३/२६-३१

अर्थ–सुख आत्मा का स्वरूप है । जब मनुष्य सर्व क्रियाओं से उपराम प्राप्त करता है तब वह स्वयं प्रकाशित होता है । सांसारिक भोग तो मनोरथ-मात्र से उत्पन्न होनेवाले और नाशवान् हैं । इसलिए प्रारब्ध भोगों का उपभोग करता हुआ मैं कोई उद्यम नहीं करता । इस आत्मा का सुखरूप स्वार्थ अपने अंदर ही रहा हुआ है फिर भी उसे भुलाकर मनुष्य, देहादि द्वैत पदार्थ मिथ्या होने पर भी, विचित्र तथा भयंकर संसार में

---

* पुरुष सूक्त–'नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्,' 'चन्द्रमा मनसः' इत्यादि ।
* तुलना–सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि...ज्ञानदीपिते ।।गीता 4.27।।

गिरता है। मूर्ख मनुष्य जल में से उत्पन्न हुए घास, शैवाल आदि पदार्थों से ढँका हुआ जल छोड़कर पानी की इच्छा से मृग-मरीचिका की ओर दौड़ता है उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य आत्मस्वरूप से अन्यत्र पुरुषार्थ को देखता हुआ विषयों की ओर दौड़ता है। दैवाधीन देहादि पदार्थों से सुख मिले और दु:ख का नाश हो, ऐसी इच्छा रखनेवाला भाग्यहीन पुरुष बार-बार जो-जो क्रियाएँ करता है, वे सब निष्फल होती हैं। मनुष्य आध्यात्मिक आदि दु:खों से कभी मुक्त नहीं है और निश्चित मरनेवाला है। बड़ी मुश्किल से उसको धन या भोग मिल भी जायँ, तो भी उससे क्या फायदा ? कुछ नहीं। जिन्होंने मन को नहीं जीता ऐसे लोभी धनवानों को दु:ख ही दु:ख है। उन्हें भय के कारण नींद नहीं आती और चारों ओर से वे शंकाशील रहते हैं।

घृतस्य जूतिः समनाः सदेवाः संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः।।

अथर्ववेद १९/५८/१

अर्थ – प्रकाशमान परम तेजस्वी परमात्मा का ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान सब प्राणियों के मन में रहनेवाला, सब इन्द्रियों के साथ रहनेवाला, परमात्मा को शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि हवियों से पुष्ट करता है। ज्ञानयज्ञ में प्रवृत्त होनेवाले हमारे कान, नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ नष्ट न हों। अर्थात् श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ और प्राणादि कर्मेन्द्रियाँ परमात्मा में लीन रहें। ब्रह्मतत्ववेत्ता हम लोग प्रारब्ध कर्माश्रय पर रहनेवाले देह की आयु से और तेज से नाशवान् न हों अर्थात् सारी आयु तक हमारे तेज की वृद्धि बनी रहे।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिः बुद्धेरात्मा महान्परः।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः।।
यच्छेद् वाङमनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।

कठोपनिषद् १/३/१०,११,१३

अर्थ – इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन उत्कृष्ट है, मन से बुद्धि पर है और बुद्धि से भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) उत्कृष्ट है। महत्तत्त्व से अव्यक्त (मूल प्रकृति) पर है और अव्यक्त से भी पुरुष पर है। पुरुष से पर और कुछ नहीं है। वही (सूक्ष्मत्व) की पराकाष्ठा (हद) है, वही परा (उत्कृष्ट) गति है।

विवेकी पुरुष वाक्-इन्द्रिय का मन में उपसंहार करे, उसका प्रकाश-स्वरूप बुद्धि में लय करे, बुद्धि को महत् तत्त्व में लीन करे और महत्तत्त्व को शान्त आत्मा में नियुक्त करे।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

मुंडकोपनिषद् १/२/१०

अर्थ – इष्ट और पूर्त कर्मों को ही सर्वोत्तम माननेवाले वे महामूढ किसी अन्य वस्तु को श्रेयस्कर नहीं समझते। वे स्वर्गलोक के उच्च स्थान में अपने कर्मफलों का अनुभव कर इस (मनुष्य) लोक अथवा इससे भी निकृष्ट लोक में प्रवेश करते हैं।

११५. ब्रह्मचर्याश्रम के बाद ही गृहस्थी या वानप्रस्थी होना

दत्त्वा वरमनुज्ञातो गुरोः कामं यदीश्वरः।
गृहं वनं वा प्रविशेत् प्रव्रजेत् तत्र वा वसेत् ॥

श्रीमद्भागवत ७/१२/१४

अर्थ – फिर वेदाध्ययन के बाद अपनी शक्ति के अनुसार अथवा स्वयं समर्थ हो तो गुरु की आज्ञा के अनुसार, उन्हें इच्छित दक्षिणा देकर, उनकी आज्ञा लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे अथवा वन में जायँ। (अर्थात् गृहस्थाश्रम भोगकर वानप्रस्थाश्रम का स्वीकार करे अथवा संन्यास ले) अथवा, वहीं नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में रहे।

अथ हैनं जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यं उपसमेत्योवाच–भगवन् संन्यासं ब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः–ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वनी भवेत् । वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वनाद् वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वा स्नातको वा उत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ॥

जाबालोपनिषद् ॥४॥

११६. अधर्म शाखा--अविद्या

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः ।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत् ॥

श्रीमद्भागवत ७/१५/१२

अर्थ – विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल ये पाँच अधर्म की शाखाएँ हैं । धर्म को जाननेवाला मनुष्य अधर्म की तरह इनका त्याग करे ।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

कठोपनिषद् १/२/५

अर्थ – अविद्या के भीतर रहनेवाले, अपने आप बड़े बुद्धिमान बने हुए और अपने को पण्डित माननेवाले, मूढ पुरुष, अन्धे से ही ले जाये जाते हुए अन्धे के समान अनेकों कुटिल गतियों की इच्छा करते हुए भटकते रहते हैं ।

अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः । अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

योगसूत्र २/३/५

११७. शरीर रथ–ईश्वर लक्ष्य

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम् ।

वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं
सत्त्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम् ॥
अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् ।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥

श्रीमद्भागवत ७/१५/४१,४२

अर्थ – विद्वानों का कहना है कि यह शरीर रथ है, इन्द्रियाँ उससे जुड़े हुए घोड़े हैं, इन्द्रियों का नियन्ता मन उन घोड़ों की लगाम है, शब्दादि विषय भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, बुद्धि उस रथ को चलानेवाला सारथी है और चित्त उस रथ को बाँधने का ईश्वर-निर्मित बड़ा बन्धन है। दस प्राण इस रथ का अक्ष है, अधर्म और धर्म इस रथ के दो पहिये हैं, अहंकारी जीव इस रथ में बैठनेवाला है, ॐकार उस जीव का धनुष है, शुद्ध जीव उसका बाण है और परब्रह्म उसका लक्ष्य (निशान) है।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भागवतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥

मुण्डकोपनिषद् २/२/३

अर्थ – हे सोम्य, उपनिषद्-वेद्य महान् अस्त्ररूप धनुष लेकर उस पर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ा और फिर उसे खींचकर ब्रह्मभावानुगत चित्त से उस अक्षररूप लक्ष्य का ही वेधन कर ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

कठोपनिषद् १/२/३,४

अर्थ – तू आतमा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथि जान और मन को लगाम समझ ।

विवेकी पुरुष इन्द्रियों को घोड़े बतलाते हैं तथा उनके घोड़ेरूप से कल्पित किये जाने पर विषयों को उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।

११८. देवयान

अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट् ।
विश्वश्च तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात् ॥
देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः ।
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते ॥

श्रीमद्भागवत ७/१५/५४, ५५

अर्थ – निवृत्तमार्गी पुरुष प्रथम अग्नि को, वहाँ से सूर्य को, वहाँ से दिन के अभिमानी देव को, वहाँ से सायंकाल को, वहाँ से शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव को, वहाँ से पूर्णिमा के अभिमानी देव को, वहाँ से उत्तरायण के अभिमानी देव को और फिर ब्रह्मलोक में ब्रह्मदेव को प्राप्त होता है। इसके बाद वह पुरुष स्थूल उपाधिवाला विश्वात्मा बनता है। फिर वह स्थूल उपाधि का सूक्ष्म में लयकर सूक्ष्म उपाधि वाला 'तैजस्' बनता है। फिर सूक्ष्म उपाधि का कारण में लयकर कारणोपाधि 'प्राज्ञ' बनता है। इसके बाद कारणरूप उपाधि का सर्वसाक्षी रूप से अनुसरण करने वाले साक्षीरूप में लय कर तुरीय रूप से रहता है अर्थात् उन-उन उपाधियुक्त स्वरूपों का लय होते-होते अन्त में वह शुद्धात्मा (युक्त) बनता है।

इस निवृत्ति-मार्ग को ही विद्वान 'देवयान-मार्ग' कहते हैं। इस मार्ग में उत्तरोत्तर उन-उन स्वरूपों को प्राप्त होकर आत्मत्याग करने वाला शान्तात्मा पुरुष केवल आत्मस्वरूप में ही रहता है और संसार में कभी वापस नहीं लौटता।

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते ।
तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण-
पक्षमापूर्यमाणपक्षात् यान् षडुदङ्ङेति मासाँस्तान् ॥
मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्या-

च्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो मानवः
स एनान् ब्रह्म गमयति एष देवयानः पन्था इति ॥

छा.उ. ५/१०/१, २

अर्थ – ये जो पंचाग्नि विद्या जाननेवाले पुरुष पंचाग्नि विद्या को इस प्रकार जानते हैं और जो ये संसार से विरक्त होकर वन में अर्थात् एकान्त स्थान में श्रद्धा अर्थात् भक्तियोग और तप अर्थात् ज्ञानयोग की उपासना करते हैं, वे मृत्यु के समीप अर्चि को अर्थात् अग्नि को प्राप्त होते हैं। फिर अर्चि से दिनाभिमानी देवता अर्थात् सूर्य को, फिर शुक्लपक्षाभिमानी देवता को, फिर उससे षण्मासोत्तरायणाभिमानी देवता को, फिर उत्तरायण के महीनों से चढ़ते-चढ़ते संवत्सर को अर्थात् विराट की रचना को, फिर आदित्यलोक को, फिर आदित्यलोक से चन्द्रलोक को, फिर चन्द्रलोक से बिजली अर्थात् शीघ्रगति को प्राप्त होते हैं। वहाँ से ब्रह्म का मानस पुरुष ब्रह्मलोक को ले जाता है। यही 'देवयान मार्ग' कहलाता है।

अष्टमः स्कन्धः

११९. ईश्वर का कार्य

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः ॥

श्रीमद्भागवत ८/१/९

अर्थ – जिनकी चेतना के स्पर्शमात्र से यह विश्व चेतन हो जाता है परन्तु यह विश्व जिनको चेतना का दान नहीं कर सकता, जगत के सो जाने के बाद प्रलयकाल में भी जो जागते रहते हैं, जिनको यह जगत नहीं जानता किन्तु जो जगत को जानते हैं, वे ही परमात्मा हैं।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते।एतद्वैतत् ॥

कठोपनिषद् २/१/३

अर्थ – जिस आत्मा के द्वारा मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुनजन्य सुखों को निश्चयपूर्वक जानता है, उस आत्मा से

अविज्ञेय इस लोक में और क्या रह जाता है ? वह तत्त्व निश्चय ही परमात्मतत्त्व है।

१२०. ईश्वर का सर्वव्यापकत्व– उसको समर्पण कर भोगें

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

श्रीमद्भागवत ८/१/१०

अर्थ – उस ईश्वर से यह जगत व्याप्त है। जगत में जो समस्त प्राणी-पदार्थ हैं, वे भी उस ईश्वर से ही व्याप्त हैं। अतः ईश्वर जो दे उसका ही तू उपभोग कर अथवा उस ईश्वर को सब अर्पण करने के बाद ही तू उपभोग कर और परकीय धन का लालच न कर अथवा, जो भी धन है वह किसका है ? (किसीका नहीं, परमेश्वर का ही है।) अतः धन की इच्छा क्यों की जाय ?

ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

ईशावास्योपनिषद् १

अर्थ – जगत में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है। (अर्थात् उसे भगवत्स्वरूप अनुभव करना चाहिए) उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर, किसी के धन की इच्छा न कर।

१२१. ईश्वर-सर्जन का कारण तथापि उससे पर

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ।।

श्रीमद्भागवत ८/३/३

अर्थ – जिसके अंदर यह जगत रहा हुआ है, जिससे यह उत्पन्न होता है, जो जगत की रचना करता है, जो स्वयं जगत्-स्वरूप है और कार्य एवं कारण से पर है, उस स्वतःसिद्ध भगवान की मैं शरण लेता हूँ ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।
प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते ।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।

यजुर्वेद ३१/१८/१९

अर्थ–आदित्य के समानवर्ण वाले, अविद्या से अत्यन्त दूर इस सर्वोत्कृष्ट पुरुष को मैं जानता हूँ । वह आदित्य को जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है। आश्रय के लिए अन्य मार्ग विद्यमान नहीं है।

भगवान प्रजापति हृदय में स्थित हो प्रत्येक गर्भ में प्रविष्ट होते हैं । वे अनुत्पद्यमान तथा नित्य होकर भी माया के द्वारा प्रपंच रूप से उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मवेत्ता चारों ओर उस प्रजापति के स्वरूप को देखते हैं । सर्वभूत समूह (जगत) उसी में स्थित हैं। (तदात्मक है ।)

इन्द्रस्य गृहोऽसि ।
तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः ।
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ।।
इन्द्रस्य शर्मासि ।
तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः ।
सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ।।

अथर्ववेद ५/६/११, १२

अर्थ – तू इन्द्र का घर है । तू इन्द्र का आश्रय-स्थान है । मैं सब प्रकार की गति से युक्त, सब पुरुषार्थ-शक्ति से युक्त, सर्व आत्मबल से युक्त, सब शारीरिक शक्तियों से युक्त, जो कुछ मेरा है उस सब के साथ, उससे मैं तुम्हें प्राप्त करता हूँ और उसके द्वारा मैं तुझमें प्रवेश करता हूँ ।

१२२-१२३, ईश्वर अगम्य है

न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु-
र्जन्तु पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम् ।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो
दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ।।

श्रीमद्भागवत ८/३/६

अर्थ – जिस प्रकार भिन्न-भिन्न आकृतियों से अभिनय करने वाले अभिनेता के मूल स्वरूप को मनुष्य जान नहीं सकते, उसी प्रकार जिसके परम स्वरूप को देव या ऋषि भी जान नहीं सकते, तब कौन प्राणी उस परम पद को प्राप्त करने अथवा उसका वर्णन करने योग्य है? ऐसे दुर्गम चरित्र वाले परमेश्वर मेरी रक्षा करें ।

नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने ।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि ।।

श्रीमद्भागवत ८/३/१० ।।

अर्थ – जो परमात्मा अन्य प्रकाश के अविषय हैं, क्योंकि वे सर्व के साक्षी, प्रकाशक तथा जीवों के नियन्ता हैं, इसीलिए वाणी, मन और चित्त से भी अत्यन्त दूर है, उन परमात्मा को मेरा नमस्कार ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये न स्तद्व्याचचक्षिरे ।

केनोपनिषद् १/३

अर्थ – वहाँ (उस ब्रह्म तक) नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता । अतः जिस प्रकार शिष्य को इस ब्रह्म का उपदेश करना चाहिए, वह हम नहीं जानते–वह हमारी समझ में नहीं आता । वह विदित से अन्य ही है तथा अविदित से भी परे है–ऐसा हमने पूर्व पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया था ।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा यश्यन्ति सूरयः ।
दिवीऽव चक्षुरानतम् ।
दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात् ।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ।।

अथर्ववेद ७/२६/७, ८ ।

अर्थ – जिस प्रकार द्युलोक में सूर्य को सब लोग देखते हैं इस प्रकार ज्ञानी उसे हमेशा देखते रहते हैं । अर्थात् वह ईश्वर उन्हें इस प्रकार से प्रत्यक्ष होता है ।

हे सर्वव्यापक प्रभु, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक से बहुत धन तुम अपने दोनों हाथों में ले लो और उन दोनों हाथों से वह धन हमें प्रदान कर ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

कठोपनिषद् २/२/१५

अर्थ – वहाँ (उस आत्मलोक में) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत् ही चमचमाती है, फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है ? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाश से ही यह सब कुछ भासता है ।

१२४. आत्मबल और निष्काम कर्म से ही ईश्वर-दर्शन

सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता ।
नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ।।

श्रीमद्भागवत ८/३/११

अर्थ – जिस भगवान को केवल शुद्ध संन्यास के द्वारा विद्वान पुरुष प्राप्त कर सकते हैं, जो मोक्ष के स्वामी हैं और जो मोक्षानंद की अनुभव-मूर्ति हैं, उस भगवान को मेरा नमस्कार ।

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ।।
कठोपनिषद् १/३/६, ७

अर्थ – जो बुद्धिरूप सारथि कुशल और सर्वदा समाहित चित्त से युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं जैसे सारथि के अधीन अच्छे घोड़े ।

किन्तु जो अविज्ञानवान्, अनिगृहीतचित्त और सदा अपवित्र रहने वाला होता है वह उस पद को प्राप्त नहीं कर सकता, प्रत्युत संसार को ही प्राप्त होता है ।

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।
मुण्डक १/२/११

अर्थ – जो शान्त और विद्वान लोग वन में रहकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे पापरहित होकर सूर्यद्वार (उत्तरायण-मार्ग) से वहाँ जाते हैं जहाँ वह अमृत और अव्यय-स्वरूप पुरुष रहता है ।

१२५. सर्वेन्द्रियों का गुणद्रष्टा और प्राणदाता

सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे ।
असताच्छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः ।।
श्रीमद्भागवत ८/३/१४

अर्थ – सर्व इन्द्रियों तथा उनके विषयों के द्रष्टा, सर्व इन्द्रियों की वृत्तियों को बताने वाले, केवल मिथ्यास्वरूप अहंकारादि प्रपंच द्वारा (प्रतिबिंब बिंब को प्रकट करता है उसी प्रकार) जिनको प्रकट किये हुए हैं और सब विषयों में जो सत्य रूप से भासते हैं, उन आपको मेरे नमस्कार !

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् ।।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ।।एतद्वैतत्।।

कठोपनिषद् २/१/३

अर्थ – इस आत्मा के द्वारा मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुनजन्य सुखों को निश्चयपूर्वक जानता है (उस आत्मा से अविज्ञेय) इस लोक में और क्या रह जाता है ? वह तत्त्व निश्चय यही है ।

१२६. ईश्वर केवल ज्ञानप्राप्य

आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै-
र्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय ।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ।।

श्रीमद्भागवत ८/३/१८

अर्थ – शरीर, पुत्र, सम्बन्धी-वर्ग, घर, धन तथा अन्य मनुष्यों में आसक्त रहनेवालों के लिए आप दुर्लभ हैं, क्योंकि आप गुणों के संग से रहित हैं और इसीलिए देहादि में आसक्ति न रखनेवाले (मुक्तात्मा) पुरुष आपका चिन्तन करते हैं । ज्ञानस्वरूप और अचिन्त्य अनन्त गुणों से पूर्ण आप ईश्वर को मेरा नमस्कार ।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।।

मुंडकोपनिषद् ३/१/८

अर्थ – (यह आत्मा) न नेत्र से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से ही । ज्ञान के प्रसाद से पुरुष विशुद्धचित्त हो जाता है और तभी वह ध्यान करने पर उस निष्कल आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।।
संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ता ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ।।

मुंडकोपनिषद् ३/२/३, ५

अर्थ – यह आत्मा न तो प्रवचन (पुष्कल शास्त्राध्ययन) से प्राप्त होने योग्य है और न मेधा (धारणा-शक्ति) तथा अधिक श्रवण करने से ही मिलनेवाला है। यह (विद्वान्) जिस परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा करता है उस (इच्छा) के द्वारा ही इसकी प्राप्ति हो सकती है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है ।

इस आत्मा को प्राप्त कर ऋषिगण ज्ञानतृप्त, कृतकृत्य, विरक्त और प्रशान्त हो जाते हैं । वे धीर पुरुष उस सर्वगत ब्रह्म को सब ओर प्राप्तकर (मरणकाल में) समाहितचित्त हो सर्वरूप ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाते हैं ।

१२७. ईश्वर से ही संसार की उत्पत्ति

यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो
निर्यान्ति संयान्त्यसकृत् स्वरोचिषः ।
तथा यतोऽयं गुणसंप्रवाहो
बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः ।।

श्रीमद्भागवत ८/३/२३

अर्थ – जिस प्रकार अग्नि से बारंबार ज्वालाएँ और सूर्य से किरणें निकलती हैं तथा पुनः उसी में ,लीन हो जाती हैं उसी प्रकार उस स्वयं

प्रकाश परमात्मा से गुणों के प्रवाहरूप बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ तथा शरीरों की सृष्टियाँ बार-बार उत्पन्न होती हैं और पुनः उसमें लीन होती हैं ।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्
सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा
गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥
अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-
ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च
येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥

मुण्डकोपनिषद् २/१/८,९

अर्थ – उस पुरुष से ही सप्त प्राण (मस्तकस्थ सात इन्द्रियाँ) उत्पन्न हुए हैं। उसी से उनकी सात दीप्तियाँ, सात समिधा (विषय), सात होम (विषयज्ञान) और जिनमें वे संचार करते हैं वे सात स्थान प्रकट हुए हैं । इस प्रकार प्रति देह में स्थापित ये सात-सात पदार्थ उस पुरुष से ही हुए हैं ।

इसीसे समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इसी से अनेक रूपों वाली नदियाँ बहती हैं, इसी से सम्पूर्ण औषधियाँ और रस प्रकट हुए हैं, जिस रस से भूतों से परिवेष्टित हुआ यह अन्तरात्मा स्थित होता है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

कठ. २/२/९

अर्थ – जिस प्रकार सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूप (रूपवान् वस्तु) के अनुरूप हो गया है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा उसके रूप के अनुरूप हो रहा है तथा उससे बाहर भी है ।

१२८. ईश्वर-अविद्या से अप्राप्य, मात्र ज्ञान प्राप्य

यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा
भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ।
किं त्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययं
करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ।।

श्रीमद्भागवत ८/३/१९

अर्थ – धर्म, काम, अर्थ तथा मोक्ष की इच्छावाले पुरुष जिनका भजन करते हुए इच्छित गति को प्राप्त होते हैं, इतना ही नहीं अपितु वे भजन करनेवाले पुरुष जिन कामनाओं की इच्छा नहीं करते ऐसी सब प्रकार की कामनाएँ तथा सुदृढ़ देह भी जो उनको देते हैं वे अति दयालु भगवान मेरी मुक्ति करें ।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ।।

मुण्डोपनिषद् ३/२/५

अर्थ – इस आतमा को प्राप्तकर ऋषिगण ज्ञानतृप्त, कृतकृत्य, विरक्त और प्रशान्त हो जाते हैं । वे धीर पुरुष उस सर्वगत ब्रह्म को सब ओर प्राप्तकर (मरणकाल में) समाहित चित्त हो सर्वरूप ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाते हैं ।

१२९. ईश्वर अतीन्द्रिय है

तमक्षरं ब्रह्म परं परेश-
मव्यक्तमाध्यात्मिक योगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर-
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ।।

श्रीमद्भागवत ८/३/२१

अर्थ – परमेश्वर अविनाशी ब्रह्म, सबसे पर, पर ब्रह्मादि देवों के भी नियंता, अव्यक्त, आध्यात्मिक भक्तियोग से जानने योग्य, सूक्ष्म, परमाणु

की तरह इन्द्रियों के अविषय, अत्यन्त दूर हो ऐसे, अनंत तथा सर्व के आदि हैं। मैं उस परमेश्वर की स्तुति करता हूँ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।

केनोपनिषद् १/३

अर्थ – (उस ब्रह्म तक) नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता। अतः जिस प्रकार शिष्य को इस ब्रह्म का उपदेश करना चाहिए, यह हम नहीं जानते–यह हमारी समझ में नहीं आता। यह विदित से अन्य ही है तथा अविदित से भी परे हैं–ऐसा हमने पूर्वपुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया था।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

॥ ईश ॥

अर्थ – वह (परब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म) भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्णसे पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है तथा (प्रलयकाल में) पूर्ण (कार्यब्रह्म) का पूर्णत्व लेकर (अपने में लीन करके) पूर्ण (परब्रह्म) ही बच रहता है।

१३०. ईश्वर-निषेधशेष-नेति नेति

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्
निषेधशेषो जयतादशेषः॥

श्रीमद्भागवत ८/३/२४

अथ – भगवान दव, असुर, मनुष्य अथवा पशु-पक्षी नहीं हैं; स्त्री, पुरुष, नपुँसक अथवा कोई प्राणी नहीं हैं; वह गुण, कर्म, स्थूल कार्य

अथवा सूक्ष्म कारण नहीं हैं। सब वस्तुओं का निषेध करने पर जो बाकी रह जाता है और जो माया के कारण सर्व-स्वरूप है वही भगवान है। उनका जयजयकार हो।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठन्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।

श्वेताश्वतर ३/९

अर्थ – जिससे उत्कृष्ट और कोई नहीं है तथा जिससे छोटा और बड़ा भी कोई नहीं है वह यह अद्वितीय परमात्मा अपनी द्योतनात्मक महिमा में वृक्ष के समान निश्चल भाव से स्थित है, उस पुरुष ने ही इस सम्पूर्ण जगत को व्याप्त कर रखा है।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

श्वेताश्वतर ६/८

अर्थ – उसके शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं, उसके समान और उससे बढ़कर भी कोई दिखाई नहीं देता, उसकी पराशक्ति नाना प्रकार की ही सुनी जाती है और वह स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया और बलक्रिया है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

मुण्डकोपनिषद् ३/१/८

अर्थ – यह आत्मा न नेत्र से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से ही। ज्ञान के प्रसाद से पुरुष विशुद्धचित्त हो जाता है और तभी ध्यान करने पर उस निष्कल आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है।

१३१. विश्वात्मा ब्रह्म

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् ।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ।।

श्रीमद्भागवत ८/३/२६

अर्थ – वह परब्रह्म परमात्मा विश्वरहित होने पर भी विश्व के रचयिता और विश्वरूप है तथा विश्व के अन्तरात्मा के रूप में विश्वरूप सामग्री से क्रीड़ा भी करते रहते हैं । उन परमपदरूप अजन्मा ब्रह्म को मैं प्रणाम करता हूँ ।

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं
गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं
नमामहे देववरं वरेण्यम् ।।

श्रीमद्भागवत ८,५/२६

अर्थ – सर्व विकार से रहित, सत्य स्वरूप, अन्तरहित, सर्व के आद्य, सब की हृदयरूप गुहा में रहने वाले, किसी भी उपाधि से रहित, कभी तर्क में न आने वाले, मन से भी अधिक वेगवान् और वाणी के द्वारा वर्णन करने में अशक्य सर्वश्रेष्ठ सर्वोत्तम देव को हम नमस्कार करते हैं ।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।

ईशावास्योपनिषद् ८

अर्थ – वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ सर्वोत्कृष्ट और स्वयम्भू (स्वयं ही होने वाला) है । उसी ने नित्य सिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से अर्थों (कर्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है ।

१३२. ईश्वर का मन-चन्द्र

सोमं मनो यस्य समामनन्ति
दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः ।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ।।

श्रीमद्भागवत ८/५/३४

अर्थ – जो चन्द्रमा देवों के लिए अन्नरूप होने से बल तथा आयुष्य रूप भी है, वृक्षों का अधिपति तथा प्रजाओं की वृद्धि करने वाला है, वह चन्द्रमा भगवान का मन है, ऐसा वेद कहते हैं । वे महान् ऐश्वर्य वाले भगवान हमारे ऊपर प्रसन्न हों ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ।।

यजुर्वेद ३१/१२

अर्थ – उस विराट पुरुष के मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, कर्ण से वायु तथा प्राण और मुख से अग्नि प्रकट हुआ ।

१३३. स्वयंभू विभूति

पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य
चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः ।
स वै महापूरुष आत्मतन्त्रः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ।।३२।।

अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं
सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः ।
लोकास्त्रयोऽथाखिल लोकपालाः
प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ।।३३।।

सोमं मनो यस्य समामनन्ति
दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः ।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ।।३४।।

अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा
जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा ।
अन्तः समुद्रेऽनुपचन्स्वधातून्
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ।।३५।।

यच्चक्षुरासीत् तरणिर्देवयानं
त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम् ।
द्वारं च मुक्तेरमृतं च मृत्युः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ।।३६।।

प्राणादभूद् यस्य चराचराणां
प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः ।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ।।३७।।

श्रोत्राद् दिशो यस्य हृदश्च खानि
प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः ।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतं
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ।।३८।।

बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादा-
न्मन्योर्गिरीशो धिषणाद् विरिञ्चः ।
खेभ्यश्च छन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ।।३९।।

श्रीर्वक्षसः पितरश्छाययाऽऽसन्
धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत् ।
द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारात्
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ।।४०।।

विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं
राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च ।
ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ।।

श्रीमद्भागवत ८/५/३२-४१

अर्थ – जिस पृथ्वी को भगवान ने स्वयं रचा है और जिस पृथ्वी पर (जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज–इस प्रकार) चार प्रकार की भूतसृष्टि है, वह पृथ्वी ही भगवान के दो पैर हैं । वे सर्वदा स्वतन्त्र, अस्खलित स्वरूप वाले तथा महान ऐश्वर्य वाले हैं ।

जिस पानी से तीनों लोक तथा सब लोकपाल उत्पन्न होते हैं, जीवित रहते हैं और वृद्धि को प्राप्त करते हैं, वह उत्कृष्ट शक्तिवाला पानी भगवान का वीर्य है ।

जो चन्द्रमा देवों के लिए अन्नरूप है, अतएव आयुष्यरूप तथा बलरूप भी है, जो वृक्षों का अधिपति और प्रजाओं की वृद्धि करने वाला है, वह चन्द्रमा भगवान का मन है, ऐसा वेद कहते हैं ।

जिससे धन उत्पन्न हुआ है, जिसका जन्म क्रियाकांड द्वारा प्रकट होने वाले कर्म के निमित्त से हुआ है, जो प्राणियों के पेट में पाचन-योग्य अन्नादि धातुओं का पाचन करता है और समुद्र में भी जो वडवानल के रूप में जल को पकाता है, वह अग्नि भगवान का मुख है ।

अर्चिरादि मार्ग का देव, वेदमय, ब्रह्म की उपासना का स्थल, मोक्ष का द्वार, पुण्यलोकरूप होने से अमृतरूप और कालरूप होने से मृत्युरूप सूर्य उस भगवान का चक्षु है ।

जो वायु स्थावर-जंगम प्राणियों का प्राणरूप, मानसिक शक्तिरूप तथा इन्द्रियों की शक्तिरूप है और जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा का उसके अनुयायी अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार जिस प्राण का हम अनुसरण करते हैं, वह प्राणवायु भगवान के प्राणों से उत्पन्न हुआ है ।

उस महापुरुष के कानों में से दिशाएँ उत्पन्न हुई हैं, हृदय में से देह के छिद्र उत्पन्न हुए हैं और नाभि में से प्राण, इन्द्रियाँ, मन तथा शरीर का आश्रयरूप आकाश उत्पन्न हुआ है ।

उस परमात्मा के बल में से महेन्द्र, कृपा से देव, क्रोध से शंकर, बुद्धि से ब्रह्मा, देह के छिद्रों में से वेद और ऋषि तथा लिंग में से प्रजापति उत्पन्न हुए हैं ।

उस परमात्मा के वक्ष:स्थल सें लक्ष्मी, छाया से पितर स्तन से धर्म, पीठ से अधर्म, मस्तक से स्वर्ग तथा विहार से अप्सराएँ उत्पन्न हुई हैं।

उस परमात्मा के मुख से ब्राह्मण तथा रहस्यरूप वेद, दो भुजाओं से क्षत्रिय तथा बल, दो उरुओं से वैश्य तथा उनकी वृत्ति-व्यापार और पैरों से शूद्र तथा उनकी वृत्ति-सेवा उत्पन्न हुए हैं। ऐसे महान ऐश्वर्यवाले भगवान मुझ पर प्रसन्न हों ।

१३४. ईश्वर-कालपुरुष

लोभोऽधरात् प्रीतिरुपर्यभूद् द्युति-
नर्स्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः ।
भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ।।

श्रीमद्भागवत ८/५/४२

अर्थ – जिनके अधरोष्ठ से लोभ, ऊपर के ओष्ठ से प्रीति, नासिका से कान्ति, स्पर्श से अज्ञानियों के लिए हितकारी लगने वाला काम, दो भृकुटियों से यमदेव तथा पलकों से काल उत्पन्न हुआ है, वे महान् ऐश्वर्यवाले भगवान हमारे ऊपर प्रसन्न हों

कालेयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधितिष्ठतः ।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्याँश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः ।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ।।

अथर्ववेद १९/५४/५

---

* स्वयं भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा वर्चो मे देहि।
तदेवाग्निदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मता आपः स प्रजापतिः ।।

अर्थ – प्रकाशमान यह अग्नि के अंगारे के समान प्रकाशमान सूर्य काल नामक परमात्मा में अर्थात् महामृत्यु में स्थित होता है। शीतल होने से किसी की हिंसा न करने वाला अर्थात् शीतलता देने वाला चन्द्रमा कालरूप परमात्मा में रहता है। लोकक्षयकारी वह काल अपनी महत्ता से सामने दृश्यमान इस लोक को अथवा सर्वकर्मार्जन-स्थान इस भूमि को उत्कृष्ट कर्मफलों के भोगस्थल स्वर्ग को, पुण्य कर्मों से अर्जित किये हुए लोकों को, वहाँ के निवासी पुण्यात्मा जीवों को, पुण्यस्वरूप अथवा पवित्रात्मा जीवों के आधारस्वरूपों को तथा सब उक्त और अनुक्त को जीतकर अर्थात् मृत्यु द्वारा वश में करके वह सर्वोत्कृष्ट काल प्रकाशमान परमात्मा ही सारे जगत में व्याप्त होकर रहता है।

१३५. अविकृत परिणामवादी ईश्वर

त्वय्यग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत्
त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं
घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात्॥

श्रीमद्भागवत् ८/६/१०

अर्थ– यह जगत सर्व प्रकार से स्वतन्त्र आप में प्रथम लीन था, मध्य में दिखाई देता है और अन्त में भी वह पुनः आप में लीन होगा, क्योंकि जिस प्रकार मिट्टी घट का आदि, मध्य तथा अन्त है उसी प्रकार आप भी इस जगत के आदि, मध्य तथा अन्त हैं और सब से पर माया से भी पर हैं।

(१) अणोरणीयान् महतो महीयान्।

(२) वाचारंभणविकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

(३) नेह नानास्ति किंचन।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः॥

अथर्ववेद १०/७/१२

अर्थ – जिस विराटरूप परमात्मा में भूमि, आकाश और आकाशस्थ सूर्यचन्द्रादि व्याप्यरूप होकर स्थित हैं और जिसमें अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु समाये हुए स्थित हैं अर्थात् अकेले विश्वरूप परमात्मा से घिरे हुए हैं ।

१३६. शिव-स्वरूप, कार्य, विभूति

त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा
प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणस्वभावः ।
कालः क्रतुः सत्यमृतं च धर्म–
स्त्वय्यक्षरं यत् त्रिवृदामनन्ति ।।

श्रीमद्भागवत ८/७/२५

अर्थः – आप वेद के उत्पत्ति-स्थान हैं (इसीलिए स्वतः सिद्ध ज्ञानवाले हैं), जगत का आदि-महत्तत्त्व हैं, उस अहंकार के गुण, प्राण, इन्द्रियों तथा शरीर के कारणरूप हैं और काल, संकल्प, सत्य, मधुर भाषण तथा धर्म भी आप ही हैं । विद्वानों का कहना है कि त्रिगुणात्मक माया को भी आपका ही आसरा है, अथवा (अ, उ, म्, यह) तीन अक्षररूप ॐकार भी आपके अंदर ही रहा हुआ है ।

१. **शब्द योनिः**

माहेश्वराणि सूत्राण्यणादि संज्ञार्थानि ।

शिव से पाणिनि को 'अइउण' आदि चौदह सूत्र प्राप्त हुए । व्याकरण शास्त्र में ये सूत्र अतीव महत्वपूर्ण हैं । इनसे अण्, अच्, हल् आदि संज्ञाएँ सिद्ध होती हैं ।

२. **रुद्रः कालः**

नमः कालाय । अष्टाध्यायी रुद्रः शान्त्यध्याय । मं ४

कालस्वरूप परमेश्वर को नमस्कार हो ।

---

* शिव के वैदिक स्वरूप का एक अद्भुत मन्त्रात्मक श्लोक–स्वाध्याय संहिता ईशान तत्पुरुष अगोचर वामदेव सद्योजात पंचवक्त्राय रुद्र साध्य वसु आदित्य विश्वेदेवादि देवरूपाय ।

अण्डजस्वेदजोद्भिज्जजरायुजस्वरूपस्थावरजंगम मूर्तये परमेश्वराय विश्वमूर्तये शिवाय महादेवाय मीढुषे नमः ।

१३७. असत् में भी सत् स्वरूप से व्यापक

एकस्त्वमेव सदसद् द्वयमद्वयं च
स्वर्णं कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः
अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो
यस्माद् गुणैर्व्यतिकरो निरुपाधिकस्य ।।

श्रीमद्भागवत ८/१२/८

अर्थ – जिस प्रकार कुंडलादि आकृतिरूप सुवर्ण तथा आकृतिरहित मात्र सुवर्ण एक ही (सुवर्ण ही) है उसी प्रकार कार्यकारणरूप द्वैत और परमकारणरूप अद्वैत वह सब केवल आप ही हैं। वास्तव में आपके विषय में भेद नहीं है, तथापि लोगों ने अज्ञान से आपके विषय में भेद की कल्पना की है, क्योंकि आप केवल निरुपाधिस्वरूप ही हैं, फिर भी आपमें जो भेद दीखता है वह केवल गुणों के कारण ही है।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि–
राप: स्रोत: स्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद १/१५

अर्थ – जिस प्रकार तिलों में तैल, दही में घी, स्त्रोतों में जल और काष्ठों में अग्नि देखे जाते हैं उसी प्रकार जो पुरुष सत्य और तप के द्वारा इसे वारंवार देखने का प्रयत्न करता है उसे यह आत्मा आत्मा में ही दिखाई देता है।

१३८. भगवान यज्ञस्वरूप हैं

नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुः शृङ्गाय तन्तवे ।
सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः ।।

श्रीमद्भागवत ८/१६/३१

अर्थ – जिनके दो मस्तक, तीन पैर, चार सींग और सात हाथ हैं तथा जो यज्ञस्वरूप हैं ओर फल देनेवाले हैं, उन वेदविद्या में बताए हुए स्वरूपवाले परमेश्वर को मेरा नमस्कार ।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ।

यजु. १७/९१

अर्थ – जो (प्रातः सवनादि) तीन सवनों से बद्ध है, कामों का वर्षिता (बरसानेवाला) है, अत्यर्थ शब्द गर्जना करनेवाला है, महान् देवरूप तथा मनुष्यों को व्याप्त करके रहा हुआ है, उस यज्ञ के चार सींग (ब्रह्मादि ऋत्विज), तीन पाद (ऋक्, यजु तथा साम), दो मस्तक (हविर्धान तथा प्रवर्ग्याख्य) और सात हाथ (होता अथवा छंद) हैं ।

१३९. तीन पाद में व्यापक

तस्मात् त्वत्तो महीमीषद् वृणेऽहं वरदर्षभात् ।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र समितानि पदा मम ।।

श्रीमद्भागवत ८/१९/१६

अर्थ – हे दैत्येन्द्र, वरदान देनेवालों में श्रेष्ठ आपसे मै थोड़ी भूमि माँगता हूँ । मेरे पैरों से नापे हुए तीन डगभर ही भूमि मुझे चाहिए ।

---

* इस मंत्र में और भागवत के श्लोक में यज्ञ के अंग समान हैं––

(1) चत्वारि शृङ्गः––चत्वारो वेदाः ।
(2) द्विशीर्ष्ण––प्रायणीय, उदयनीय ।
(3) त्रिपदे—मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प ।
(4) सप्त हस्त––गायत्री, त्रिष्टुभ्, जगती, अनुष्टुभ्, पंक्ति, बृहती और उष्णिक् ।
(5) त्रिधा बद्ध—(1) ऋग्भिः शंसन्ति । यजुर्भिः यजन्ति । (3) सामभिः स्तुवन्ति ।

अथवा––मंत्र, ब्राह्मण और उपनिषद् के त्री उपयोगवाला ।

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्माणि धारयन् ।।

यजुर्वेद ३४-४३

अर्थ – जगत के रक्षक, अहिंस्य और पादत्रय से पुण्य कर्मों को धारण करने वाले भगवान विष्णु ने अग्नि, वायु तथा आदित्य नामक तीन पदों को व्याप्त किया ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पाँसुरे स्वाहा ।।

यजुर्वेद ५/१५

अर्थ – सर्वव्यापक श्रीविष्णु इस विश्व की रचना करते हुए प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत को तीन प्रकार से धारण करते हैं । यह प्रकाशवान्, प्रकाशरहित और अदृश्य––तीन प्रकार के परमाणु–आदि रूप अच्छी तरह देखने और बनाने योग्य जगत को ग्रहण कर अदृश्य जगत की अंतरिक्ष में स्थापना करते हैं । वह सबके लिए सेवनीय है ।

१४०. विष्णु-वामन का बल

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरु कम्पयानम् ।।

श्रीमद्भागवत २/७/४०

अर्थ – इस जगत में पृथ्वी के रजःकणों की भी गिनती करने वाला ऐसा कौन-सा विद्वान है, जो उस व्यापक देव के पराक्रम की गणना कर सके ? अर्थात ऐसी योग्यता वाला कोई है ही नहीं । जिस भगवान ने वामन अवतार में अपने पैर के अस्खलित वेग से अतिशय कंपायमान ठेठ प्रकृति के आवरण से लगाकर सत्यलोक के सर्वलोकों को धारण किया था ।

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाँसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा ।।

यजुर्वेद ५/१८

अर्थ – जिसने पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक का निर्माण किया अथवा, जिसने पार्थिव परमाणु की परिगणना की, जो तीन प्रकार से पदक्रमण करनेवाले हैं, जो विस्तीर्ण गमनवाले हैं अथवा, जिसके गमन-पदक्रमण का महात्मा गान करते हैं, जिसने देवों के ऊपर के सहवासस्थानरूप द्युलोक को स्थिर किया है उस श्रीविष्णु के ही पराक्रमों का मैं प्रकर्षतापूर्वक निरूपण करता हूँ। विष्णुप्रीत्यर्थ तुम्हारी (स्तंभ की) मैं स्थापना करता हूँ।

१४१. मत्स्यावतार

आरुह्य बृहतीं नावं विचरिष्यस्यविक्लवः ।
एकार्णवे निरालोके ऋषीणामेव वर्चसा ।।

दोधूयमानां तां नावं समीरेण बलीयसा ।
उपस्थितस्य मे शृङ्गे निबध्नीहि महाहिना ।।

अहं त्वां ऋषिभिः साकं सहनावमुदन्वति ।
विकर्षन् विचरिष्यामि यावद् ब्राह्मी निशा प्रभो ।।

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ।।

इत्थमादिश्य राजानं हरिरन्तरधीयत ।
सोऽन्ववैक्षत तं कालं यं हृषीकेश आदिशत् ।।

आस्तीर्य दर्भान् प्राक्कूलान् राजर्षिः प्रागुदङ्मुखः ।
निषसाद हरेः पादौ चिन्तयन् मत्स्यरूपिणः ।।

ततः समुद्रः उद्वेलः सर्वतः प्लावयन् महीम् ।
वर्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत ।।

ध्यायन् भगवदादेशं ददृशे नावमागताम् ।
तमारुरोह विप्रेन्द्रैरादायौषधिवीरुधः ।।

तमूचुर्मुनयः प्रीता राजन् ध्यायस्व केशवम् ।
स वै नः संकटादस्मादविता शं विधास्यति ।।

सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे ।
एकशृंगधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः ।।
निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा ।
वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम् ।।

श्रीमद्भागवत ८/२४/३५-४५

अर्थ – (श्री भगवान राजा सत्यव्रत से कहते हैं)––हे राजा, प्रलयकाल के समुद्र में तीनों लोकों के डूब जाने पर एक बड़ी-सी नौका तुम्हारे पास आएगी । तुम उसमें बैठ जाना और उस प्रकाशरहित एकाकार समुद्र में ऋषियों के तेज से बिना घबराये घूमना । जब महाबलवान वायु के कारण वह नौका खूब डोलने लगेगी तब मैं तेरे पास आऊँगा । तब वासुकि नाग से उस नौका को मेरे सींग के साथ बाँध देना । हे राजन्, मैं तुम्हें तथा ऋषियों सहित उस नौका को, ब्रह्मा की रात रहेगी तबतक, समुद्र में खींचता हुआ घूमता रहूँगा ।

उस समय तुम्हारे प्रश्न करने पर मैं तुम्हें उपदेश दूंगा और मेरे अनुग्रह से मेरी वास्तविक महिमा, जिसे 'परब्रह्म' कहते हैं, तुम्हारे हृदय में प्रकट होगी और तुम्हें उसका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाएगा ।

सत्यव्रत राजा से यह कहकर श्रीहरि अदृश्य हो गए । इसके बाद वह राजर्षि भगवान के बतलाये हुए समय की प्रतीक्षा करने लगे ।

वे पूर्व दिशा की ओर अग्रभागवाले दर्भो को पृथ्वी के ऊपर बिछाकर उसके ऊपर उत्तराभिमुख बैठकर मत्स्यरूपधारी श्रीहरि के चरणों का चिंतन करने लगा ।

आखिर वह दिन आ पहुँचा । चारों ओर से पृथ्वी को डुबा देनेवाले समुद्र ने मर्यादा छोड़ दी । बरसनेवाले महामेघों से वह बढ़ता दिखाई दिया । सत्यव्रत राजा तो भगवान की आज्ञा का ही ध्यान कर रहा था । इतने में एक नौका वहाँ आ पहुंची । तब औषधियों तथा लताओं को लेकर, सप्तर्षियों के साथ वह नौका में बैठ गया ।

उस समय उम मुनियों ने प्रसन्न होकर सत्यव्रत से कहा––हे राजा भगवान केशव का तुम ध्यान करो। वे इस संकट से हमारी रक्षा तथा कल्याण करेंगे।

तब राजा ने भगवान का ध्यान किया। इतने में एक सींग वाला मत्स्य महासमुद्र में प्रकट हुआ। वह सुवर्णमय एवं लाख योजन बड़ा था। फिर श्रीहरि ने पहले वताया था उस प्रकार उस मत्स्य के सींग में वासुकि नागरूपी रस्सी से नौका के साथ बाँधकर प्रसन्न राजा भगवान की स्तुति करने लगा।

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः॥

ऋग्वेद १/२५/७

अर्थ–जो अन्तरिक्ष में उड़नेवाले पक्षियों का मार्ग जानते हैं तथा जो समुद्र में संचार करनेवाली नौकाओं का मार्ग भी जानते हैं।

नवमः स्कन्धः

१४२. सुद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, यौवनाश्व, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, शर्याति, ययाति, मरुत्त, भरत

श्रीमद्भागवत के ९वें स्कंध के भिन्न-भिन्न अध्यायों में ये नाम प्रसिद्ध हैं, अतः (स्कंध, अध्याय, श्लोक) नहीं दिये गये हैं।

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् सुद्युम्न भूरिद्युम्न कुवलयाश्व यौवनाश्व वध्र्यश्वाश्वपतिः शशबिन्दुहरिश्चन्द्राम्बरीष ननक्तु शर्याति ययात्यनरण्याक्षसेनादयः अथ मरुत्तभरत प्रभृतयो राजान्ः।

मैत्रायणी उपनिषद् १/४

१४३. मेनका, प्रम्लोचन्ती, घृताची, उर्वशी-पुरुरवा, पूर्वचित्ति, मरुत्त, मरुत, नहुष, वसिष्ठ, अंगिरा

(१) मेनका–

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ ।

मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षाँसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषाञ्जम्भे दध्मः ।।

यजु. १५/१६

(२) प्रम्लोचन्ती–

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानी ग्रामण्यौ ।

प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहतिस्तेभ्यो नमो अस्तु तेनोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ।।

यजुर्वेद १५/१७

(३) घृताची–

अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानी ग्रामण्यौ ।

विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ।।

यजुर्वेद १५/१८

(४) उर्वशी-पुरुरवा, पूर्वचित्ति–

अयमुपयर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानी ग्रामण्यौ ।

उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत् प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ।।

यजुर्वेद १५/१९

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरुरवा असि । गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ।

यजुर्वेद ५/२

(५) मरुत, मरुत्त–

ऐ. ब्रा.

(६) नहुष–

आ यातं नहुषस्पर्याऽऽतरिक्षात् सुषूक्तिभिः ।
पिबाथो अश्विना मधु कण्वानां सवने सुतम् ।।

ऋग्वेद ८/८/३

(७) अङ्गिरा, ययाति–

मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत् सदने पूर्ववच्छुचे ।
अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमासादय बर्हिषि यक्षिच प्रियम् ।।

ऋग्वेद १/३१/१७

(८) यदु, द्रुह्यु, अनु, तुर्वसु, पुरु–

यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः ।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ।।

ऋग्वेद १/१०८/८

(९) मनु–

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ।।

ऋग्वेद ४/२६/१

१४४. कण्व, कक्षिवान् अगस्त्य, सौभरि, विश्वामित्र, जमदग्नि, कश्यप, वामदेव, वसिष्ठ, भरद्वाज, अत्रि

ये नाम श्रीमद्भागवत के नवम स्कंध में भिन्न-भिन्न स्थानों पर आये हैं, अतः स्थल निर्देश नहीं किया गया है ।

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः ।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ।।
विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव ।
शर्दिर्नो अत्रिनभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः ।।

अथर्व. १८/३/१६-१६

१४५. त्रिशंकु

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः ।
प्राप्तः चाण्डालतां शापाद् गुरोः कौशिकतेजसा ।।

श्रीमद्भागवत ९/७/५

अर्थ – उस त्रिबन्धन का सत्यव्रत नामक पुत्र था, जो 'त्रिशंकु' के नाम से प्रसिद्ध था और गुरु वसिष्ठ के शाप से चाण्डाल बन गया था ।

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् ।⌈सुमेधा अमृतोक्षितः⌋। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ।

तैत्तिरीयोपनिषद् १/१०

अर्थ – मैं (अन्तर्यामी रूप से उच्छेदरूप संसार) वृक्ष का प्रेरक हूँ । मेरी कीर्ति पर्वतशिखर के समान उच्च है । ऊर्ध्व पवित्र (परमात्मा रूप कारणवाला) हूँ । अन्नवान् सूर्य में जिस प्रकार अमृत है उसी प्रकार मैं भी शुद्ध अमृतमय हूँ । मैं प्रकाशमान (आत्मतत्त्वरूप) धन, सुमेधा और अमरणधर्मा तथा अक्षित (अव्यय) हूँ, अथवा अमृत से सिक्त हूँ । यह त्रिशंकु ऋषि का वेदानुवचन है ।

१४६. उर्वशी-पुरुरवा के ऐलसूक्त का मूल

स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो निशि।
त्रेतायां संप्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्तत ॥
स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य सः।
तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया ॥
उर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम्।
आत्मानमुभयोर्मध्ये तत् तत् प्रजननं प्रभुः ॥
तस्य निर्मन्थनाज्जातो जातवेदा विभावसुः।
त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत् ॥
तेनाजायत यज्ञेशं भगवन्नमधोक्षजम्।
उर्वशीलोकमन्विच्छन् सर्वदेवमयं हरिम् ॥
एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥
पुरूरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान् ॥

श्रीमद्भागवत ९/१४/४३-४९

अर्थ – पुरुरवा अग्नि की थाली को वन में छोड़कर घर गया। इस प्रकार त्रेतायुग का समय आ गया। एकबार रात्रि में ध्यान करते हुए उसके मन में कर्म का बोध करनेवाले तीन वेद प्रकट हुए। फिर वन में जहाँ वह थाली रखी थी वहाँ जाकर शमीवृक्ष में पिप्पल को ऊगा हुआ देखकर उसमें से दो अरणियाँ बनाईं। उर्वशी के लोक में जाने की इच्छा से उसने मंत्र से उर्वशी का ध्यान किया और नीचे की अरणि को उर्वशी मानकर और ऊपर की अरणि वह स्वयं है ऐसा माना और दोनों अरणियों के बीच में रहे हुए लकड़े को पुत्र माना। फिर (राजा दोनों अरणियों) का मन्थन करने लगा। उसमें से 'जातवेदा' नामक अग्नि प्रकट हुआ। उसका वेदविद्या से संस्कार करने के बाद आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि इन तीन प्रकार से उत्पन्न हुए अग्नि को पुरुरवा ने पुत्र माना और उर्वशी के लोक में जाने की इच्छा से उसने अग्नि के द्वारा सर्वदेवमय यज्ञपति श्रीहरि भगवान का यजन किया।

प्रथम सर्ववाणीमय ॐकार ही वेदरूप था । नारायण ही देवरूप थे, अन्य देव न थे । अग्नि भी एक ही—लौकिक—था और वर्ण भी एक 'हंस' नामका था । इसके बाद त्रेतायुग के प्रारम्भ में पुरुरवा से तीन वेद बने । उस राजा ने अग्नि को पुत्ररूप से स्वीकारकर गांधर्वलोक प्राप्त किया था ।

(ऐलसूक्त)*

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे . . . . . इति त्वा देवा इम आहुरैळ
यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धुः ।
प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उत्वमपि मादयासे ॥

ऋग्वेद १०/९५/१-१८

अर्थ—हे निर्दय नारी ! तुम अपने मन को अनुरागी बनाओ । हम शीघ्रही परस्पर वार्तालाप करें । यदि हम इस समय मौन रहेंगे तो आगामी दिवसों में सुखी नहीं रहेंगे । हे पुरुरवा ! वार्तालाप से कोई लाभ नहीं । मैं वायु के समान ही दुष्प्राप्य नारी हूँ । मैं उषा में समान तुम्हारे पास आई हूँ । अब तुम अपने घर को लौट जाओ । हे उर्वशी ! मैं तुम्हारे वियोग में इतना सन्तप्त हूँ कि अपने तूणीर से बाण निकालने में असमर्थ हूँ । इस कारण मैं युद्ध में जयलाभ करके असीमित गौओं को नहीं ला सकता । मैं राज्य-कार्यों से विमुख हो गया हूँ, इसलिए मेरे सैनिक भी कार्यहीन हो गये हैं ।

हे उषा ! उर्वशी यदि श्वसुर को भोजन कराना चाहती तो निकटस्थ घर से पति के पास जाती ।

हे पुरुरवा ! मुझे किसी सपत्नी से प्रतिस्पर्धा नहीं थी, क्योंकि मैं तुमसे हर प्रकार सन्तुष्ट थी । जब से मैं तुम्हारे घर में आई थी तभी से तुमने मेरे सुखों का विधान किया ।

---

* इस सूक्त में २, ४, ५, ७, ११, १३, १५, १६ और २८ मंत्र उर्वशी—ऋषिका के हैं । बाकी के त्रिष्टुप् छन्द के पुरुरवा के हैं ।

सुर्जूणि, श्रेणि, सुम्न आदि अप्सराएँ मलीन वेश में यहाँ आती थीं। गोष्ठ आती हुई गौएँ जैसे शब्द करती हैं, वैसे ही शब्द करनेवाली वे महिलाएं मेरे घर में नहीं आती थीं।

जब पुरुरवा उत्पन्न हुआ तब सभी देवांगनाएँ उसे देखने को आईं। नदियों ने भी उसकी प्रशंसा की। तब हे पुरुरवा! देवगण ने घोर संग्राम में जाने और नाश करने के लिए तुम्हारी स्तुति की। जब पुरुरवा मनुष्य होकर अप्सराओं की ओर गए तब अप्सराएँ अन्तर्ध्यान हो गईं। वह उसी प्रकार वहाँ से चली गईं जिस प्रकार भयभीत हरिणी भागती है या रथमें योजित अश्व द्रुतगति से चले जाते हैं।

मनुष्य-योनि को प्राप्त हुए पुरुरवा जब दिव्यलोकवासिनी अप्सराओं की ओर बढ़े तब वे अप्सराएँ, जैसे क्रीड़ाकारी अश्व भाग जाता है, वैसे ही भाग गईं।

जो उर्वशी अन्तरिक्ष की विद्युत् के समान आभामयी है, उसने मेरी सब अभिलाषाओं को पूर्ण किया था। यह उर्वशी अपने द्वारा उत्पन्न मेरे पुत्रों को दीर्घजीवी करे।

हे पुरुरवा! तुमने पृथिवी की रक्षा के लिए पुत्र को उत्पन्न किया है। मैं तुमसे अनेक बार कह चुकी हूँ कि तुम्हारे पास नहीं रहूँगी। तुम इस समय प्रजापालन के कार्य से विमुख होकर व्यर्थ वार्तालाप क्यों करते हो?

हे उर्वशी! तुम्हारा पुत्र मेरे पास किस प्रकार रहेगा? वह मेरे पास आकर रोएगा। पारस्परिक प्रेम के बन्धन को कौन सद्गृहस्थ तोड़ना स्वीकार करेगा? तुम्हारे श्वसुर के घर में श्रेष्ठ आलोक जगमगा उठा है।

हे पुरुरवा! मेरा उत्तर सुनो। मेरा पुत्र तुम्हारे पास आकर रोयेगा नहीं। मैं उसकी मंगल-कामना करूँगी। तुम अब मुझे नहीं पा सकोगे, अतः अपने घर को लौट जाओ। मैं तुम्हारे पुत्र को तुम्हारे पास भेज दूँगी।

ह उर्वशी ! मैं तुम्हारा पति आज पृथिवी पर गिर पड़ा हूँ। वह मैं फिर कभी न उठ सका। यह दुर्गति के बन्धन में पड़कर मृत्यु को प्राप्त हो और वृकादि उसके शरीर का भक्षण करें।

हे पुरुरवा ! तुम गिरो मत । तुम अपनी मृत्यु की इच्छा न करो। तुम्हारे शरीर को वृकादि भक्षण न करें। स्त्रियों का और वृकों का हृदय एक-सा होता है । उनकी मित्रता कभी अटूट नहीं रहती ।

मैंने विविध रूप धारण कर मनुष्यों में विचरण किया है। चार वर्षों तक मैं मनुष्यों में ही वास करती रही हूँ। नित्य प्रति एक बार घृतपान करती हुई घूमती रही हूँ । उर्वशी जल को प्रकट करनेवाली और अन्तरिक्ष को पूर्ण करनेवाली है । वसिष्ठ ही उसे अपने वश में कर सके। तुम्हारे पास उत्तमकर्मा पुरुरवा रहे। हे उर्वशी ! मेरा हृदय दग्ध हो रहा है । अतः लौट जाओ।

हे पुरुरवा ! सभी देवताओं का कथन है कि तुम मृत्यु को जीतनेवाले होगे और हव्य द्वारा देवताओं का यज्ञ करोगे । फिर स्वर्ग में आनन्दपूर्वक वास करोगे ।

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुः खण्ड इमे स्मृताः ।।
नाहं विदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया।
मुषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत ।।
अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा योषितां कृतः।
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः ।।

सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम्।
यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद् रुदन् ।।
कुतस्तस्यानुभावः स्यात् तेज ईशत्वमेव वा।
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडितः ।।

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ।।

स्वार्थस्याकोविदं धिङ् मां मूर्खं पण्डितमानिनम् ।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः ॥
सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम् ।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥
पुंश्चल्यापहृतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः ।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥
बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः ।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः ॥
किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः ।
रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥
क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः ।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥
पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः ।
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते ॥
तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते ।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः ॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदो मज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥
अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषृ स्त्रैणेषु चार्थवित् ।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥
अदृष्टादश्रुताद् भावान्न भाव उपजायते ।
असम्प्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः ॥
तस्मात् सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः ।
विदुषां चाप्यविश्रब्धः षड्वर्गः किम मादृशाम् ॥

११/२६/७-२४

अर्थ – ऐल बोले–अहो, मेरा मोहविस्तार कितना आश्चर्यकारक है । उर्वशी ने आलिंगन किया और मैं काममलिन हो गया ! इससे मेरा

जीवन समाप्त हो गया उसका भी मुझे पता नहीं लगा। इस उर्वशी ने मुझे ठग लिया। उसके साथ क्रीड़ा करते हुए मुझे इस बात का पता ही नहीं लगा कि कब सूर्य का उदय हुआ, कब अस्त हुआ, कितने दिन और वर्ष बीत गए! मेरा मानसिक मोह कैसा है कि जिसने मुझ-से चक्रवर्ती सम्राट का देह भी खिलौने जैसा बन गया। राज्य तथा चक्रवर्ती-पद को तृण की तरह छोड़कर पागल की तरह नग्न एवं रोता हुआ मैं एक स्त्री के पीछे-पीछे गया था। गर्दभ की तरह मैं उर्वशी की लातें खाता रहा, फिर मुझमें प्रभाव, तेज अथवा ऐश्वर्य कैसे रहता? जिस पुरुष का मन स्त्रियों के प्रति आकृष्ट हुआ हो उसको तप, त्याग शास्त्रज्ञान, एकांत सेवन अथवा मौन से क्या फायदा। स्वार्थ को न जाननेवाले और मूर्ख होने पर भी स्वयं को पंडित माननेवाले मुझको धिक्कार है। राजा होने पर भी मैं बैल और गधे की तरह स्त्री से परास्त हो गया हूँ। मैं अनेक वर्षों से उर्वशी का अधरामृत पीता रहा लेकिन, आहूतियों से अग्नि तृप्त नहीं होता उसी तरह मेरी वासना तृप्त नहीं हुई। व्यभिचारिणी स्त्रियों से आकृष्ट चित्त को सिवा ईश्वर के कोई नहीं छुड़ा सकता। मुझे उर्वशी ने प्रिय व हितकारी वचनों से समझाया तथापि मेरा मानसिक मोह दूर नहीं हुआ। उर्वशी ने मेरा क्या भला किया? कुछ नहीं। किसी मनुष्य को दोरी में सर्प की भ्रान्ति हो जाये तो इसमें दोरी का क्या दोष? अजितेन्द्रिय होने के कारण मैं ही अपराधी हूँ। मलिन तथा दुर्गन्ध वगैरह से भरपूर यह अपवित्र नारी-देह कहाँ और उत्तम मन वगैरह सुगंधमय गुण कहाँ? वास्तव में इस मलिन वस्तु में मुझे उत्तमता की भ्रान्ति हुई है। यह मेरा अज्ञान है। क्या यह शरीर माता-पिता का है? स्त्री का है? स्वामी का है? कुत्तों और गधों का है? आत्मा का है? प्रिय मित्र का है? इस प्रकार विचार करने पर भी मैं कोई निश्चय नहीं कर सकता। पुरुष स्त्री के अपवित्र तथा तुच्छ परिणाम वाले शरीर में आसक्त होता है। वह सोचता है-- इस स्त्री का मुख कितना सुखकारक है! नाक कितना सुन्दर है! मंदहास्य कितना मनोहर है! चमड़ी, मांस, रक्त, स्नायु, मेद, मज्जा तथा हड्डियों के समुदायरूप और विष्ठा तथा मूत्र से दुर्गंधवाले स्त्री-शरीर में आसक्त पुरुषों तथा कीड़ों में क्या भेद है? विवेकी पुरुषों को स्त्रियों अथवा

स्त्री-लंपट पुरुषों का संग नहीं करना चाहिए, क्योंकि विषयों तथा इन्द्रियों की संगति से मन विकृत हो जाता है। जो चीज कभी देखी-सुनी न हो, उससे मन की विकृति नहीं होती। जो व्यक्ति इन्द्रियों को विषय में नहीं जोड़ता, उसका मन निश्चल बनकर शान्त हो जाता है। अतः पुरुष स्त्रियों अथवा लंपट पुरुषों का इन्द्रियों से संग न करे, क्योंकि पाँच ज्ञानेन्द्रियां और छठा मन विश्वास करने लायक नहीं है।

१४७. ययाति, देवयानी और शर्मिष्ठा

श्रीमद्भागवत

स्कंधः ९ अध्याय १८ (पूरा)

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

कठोपनिषद् १/२/२

अर्थ – श्रेय और प्रेय मनुष्य के पास आते हैं। उन दोनों को बुद्धिमान पुरुष भली प्रकार विचारकर अलग-अलग करता है। विवेकी पुरुष प्रेय के सामने श्रेय का ही वरण करता है, किन्तु मूढ़ योग-क्षेम के निमित्त से प्रेय का वरण करता है।

एक बार दानवों के राजा वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा गुरु शुक्राचार्य की कन्या देवयानी तथा अन्य सखियों के साथ वन-विहार के लिए

(* इस चरित्र की अध्यात्मवाद में संगति–

ययाति—जीवात्मा

देवयानी–देवयान–जिसके वंश में श्रीकृष्ण,
शर्मिष्ठा के वंश में कौरव–पांडव

वषपर्वा—सकाम धर्म। वृषो धर्मः पर्वणि पर्वणि संगृहीतः

गई थी। वहाँ एक सुन्दर जलाशय को देखकर, वे अपने-अपने वस्त्र उतारकर उसमें जलक्रीड़ा के लिए उतरीं। संयोगवश भगवान शंकर पार्वती के साथ उधर से जा रहे थे। उनको देखकर सब शरमा गईं और पानी से बाहर निकलकर झट-झट अपने-अपने कपड़े पहनने लगीं। उस समय शर्मिष्ठा ने भूल से गुरुपुत्री देवयानी के वस्त्र को अपना समझकर पहन लिया। इससे देवयानी को गुस्सा आ गया। वह बोली—"हम उत्तम भृगुवंशी ब्राह्मण हैं। तुम्हारा पिता हमारा शिष्य है। लेकिन जैसे शूद्र वेद धारण कर ले, उसी प्रकार तुमने मेरे वस्त्र पहन लिये हैं। तुम वास्तव में अधम हो।' देवयानी की कटु वाणी सुनकर शर्मिष्ठा को क्रोध आगया। उसने देवयानी का वस्त्र छीन लिया और उसे कुएँ में फेंक दिया। फिर वह अपनी सखियों के साथ घर लौट गई।

उस समय नहुष का पुत्र ययाति राजा शिकार के लिए उस जंगल में आया। पानी पीने की इच्छा से उसने उस कुएँ में देखा। एक सुन्दर स्त्री को नग्नावस्था मे कुएँ में देखकर राजा को दया आ गई। उसने अपना उत्तरीय वस्त्र उस पर फेंका और हाथ पकड़कर उसको बाहर निकाला। बाहर आकर देवयानी ने ययाति से कहा—राजन्! आपने मेरा हाथ पकड़ा है तो अब मेरा भी स्वीकार करें। अब कोई अन्य पुरुष मेरा हाथ नहीं पकड़ सकता। शायद ईश्वर की भी यही इच्छा है, क्योंकि उसी ने हम दोनों का आकस्मिक मिलन करवाया है।' राजा ने देवयानी के प्रस्ताव का स्वीकार कर लिया और वहाँ से अपनी राजधानी को लौट आया।

देवयानी भी रोती-रोती अपने पिता के पास जा पहुँची और शर्मिष्ठा ने उसकी जो हालत की थी उसके बारे में बताया। शुक्राचार्य को भी बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने पुरोहित-वृत्ति की निन्दा की और पुत्री को साथ लेकर नगर से बाहर निकल गये। वृषपर्वा भयभीत हो उठा। उसने गुरु से क्षमा मांग वापस लौट आने के लिए प्रार्थना की। आचार्य का क्रोध शान्त हो गया। उन्होंने वृषपर्वा से कहा—'हे राजन्! तुम मेरी पुत्री की इच्छा पूर्ण करोगे तो मैं लौट आऊँगा।' वृषपर्वा ने गुरु का प्रस्ताव स्वीकार लिया तो देवयानी बोली—'मेरे पिता मेरा जहाँ भी लग्न करे और मैं जहाँ भी जाऊँ वहाँ तेरी पुत्री अपनी सखियों के साथ मेरा अनुसरण

करे। (अर्थात् मेरी दासी बनकर रहे)। वृषपर्वा ने इस शर्त का स्वीकार किया। शर्मिष्ठा को इस बात का पता चला तो उसने भी अपने पिता एवं सम्बन्धियों पर आये हुए संकट को समझ लिया और उसे दूर करना अत्यावश्यक मानकर अपनी हजार दासियों के साथ देवयानी का दासत्व स्वीकार किया।

यथासमय शुक्राचार्य ने देवयानी का लग्न ययाति के साथ कर दिया। शर्त के अनुसार शर्मिष्ठा को भी देवयानी के साथ जाना था। तब शुक्राचार्य ने ययाति से कहा——'हे राजन्! तुम शर्मिष्ठा के साथ कभी विषयोपभोग मत करना।' परन्तु देवयानी को संतानवाली देखकर एकबार शर्मिष्ठा ने एकान्त पाकर संतान के लिए ययाति से समागम की प्रार्थना की। ययाति ने भी इसे अपना धर्म मानकर, शुक्राचार्य के वचन का स्मरण होने पर भी, ऋतुकाल में शर्मिष्ठा से समागम किया। परिणामस्वरूप देवयानी को यदु और तुर्वसु नामक दो पुत्र थे तो शर्मिष्ठा के द्रुह्यु, अनु तथा पूरू नाम के तीन पुत्र हुए। जब देवयानी को इस बात का पता चला तो वह पिता के घर चली गई और पिता से सारी बात करी। शुक्राचार्य को क्रोध आ गया। उन्होंने ययाति को शाप दिया—'तुझे पुरुषों को कुरूप बनानेवाली वृद्धावस्था प्राप्त होगी।' ययति अभी कामोपभोग से तृप्त नहीं हुआ था। उसने शुक्राचार्य के आगे गिडगिड़ाकर शाप वापस लेने की प्रार्थना की। आचार्य को दया आ गई। उन्होंने कहा——'कोई यदि तेरी वृद्धावस्था को लेने के लिए तैयार हो तो उसकी युवावस्था को प्राप्त कर तू पुनः भोगों को भोग सकेगा।

ययाति ने अपने पुत्रों से उनकी युवानी प्राप्त करने की इच्छा की तब बाकी के पुत्रों ने तो पिता के प्रस्ताव को ठुकरा दिया, किन्तु पुरू तैयार हो गया। उसने पुरू की वृद्धावस्था ले ली और अपनी युवावस्था उसे दे दी। इसके बाद कई वर्षों तक देवयानी के साथ सुखोपभोग करने पर राजा के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हुआ। वह पुरू को उसका यौवन तथा अपना राज्य सौंपकर वन में चला गया।

१४८. निरोध-लक्षण

दशम स्कन्ध समग्र ।

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।

श्रीमद्भागवत २/१०/६

अर्थ – जीवात्माओं का श्रीहरि की योगनिद्रा के पीछे उपाधि-सहित लय होना, उसे 'निरोध' कहते हैं ।

अभ्यासवैराग्याभ्यान्तन्निरोधः ।

योगसूत्र १/१२

अर्थ – चित्त का निरोध (नियंत्रण) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा होता है ।*

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ।

–ना. भ. सू.

अर्थ – लौकिक और वैदिक क्रियाओं का भगवदर्थ परित्याग निरोध है ।

१४९. वसुदेव-देवकी

(वेदार्थ–ब्रह्मविद्या)**

तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः ।
देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत् ।।

श्रीमद्भागवत १०/१/२९

अर्थ – एक बार मथुरा नगरी में वासुदेवजी लग्न करके अपनी नवपरिणीता पत्नी देवकी के साथ अपने घर जाने के लिए रथारूढ़ हुए ।

---

* प्रपंचविस्मृतिपूर्विका कृष्णासक्तिर्निरोधः ।

—श्रीमद्वल्लभभाचार्याः ।

** एषा नु पूर्वा दिग् देवकीति श्रुतेः ।

देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते ।
निगमो वसुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः ॥

कृष्णोपनिषद् ६

अर्थ – वेदों में जिसका गान किया गया है वह ब्रह्मविद्या ही 'देवकी' है और 'वसुदेव' श्रीराम तथा कृष्ण का वैदिक तत्त्वार्थ है ।

१५०. कंस (अहंकार)

उग्रसेनसुतः कंसः स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।
रश्मीन् हयानां जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः ॥

श्रीमद्भागवत १०/१/३०

अर्थ – (जब वासुदेवजी अपनी नवपरिणीत पत्नी देवकी के साथ घर पर जाने लगे तब) उग्रसेन का पुत्र कंस अपनी बहन देवकी को प्रसन्न करने के लिए उसके रथ के घोड़े की लगाम हाथ में लेकर रथ हाँकने लगा । उस समय उसके चारों ओर सैंकड़ों सुवर्ण-रथ चल रहे थे ।

कलिः कंसः स भूपतिः ।

कृष्णोपनिषद् १

अर्थ – वह राजा कंस ही कलिरूप है ।

१५१. पृथ्वी पर अवतार के लिए देवों की प्रार्थना

भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः ।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥
गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना क्रन्दन्ती करुणं विभोः ।
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं स्वमवोचत ॥
ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह ।
जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः ॥
तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम् ।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ॥

श्रीमद्भागवत १०/१/१७-२७

अर्थ – जब पृथ्वी गर्व में छके हुए और राजा बनकर बैठे हुए दैत्यों की सैकड़ों-हजारों सेनाओं से अतिशय भार के कारण दब गई तब ब्रह्मा की शरण में गई। उस समय गाय का रूप धारणकर, खिन्न होकर वह ब्रह्मा के पास जाकर करुण आक्रंद करने लगी। अश्रुपूर्ण मुख से उसने अपना दुःख उनको बताया। वह सुनकर ब्रह्मा महादेव के साथ पृथ्वी तथा देवों को लेकर क्षीरसमुद्र के किनारे गये। वहाँ जाकर उन्होंने ज़गत के स्वामी और देवाधिदेव विष्णु भगवान की पुरुष-सूक्त से एकाग्र-चित्त होकर स्तुति की।

उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्र देवाः।
अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन् त्सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व॥

ऋग्वेद ४/१८/११

अर्थ – और माता अदिति ने महान् इन्द्र की प्रशंसा की कि हे पुत्र, ये देव तुझे छोड़ रहे हैं। तब व्रत्र को मारने की इच्छा करते हुए इन्द्र ने विष्णु से कहा कि मित्र विष्णु, तू उत्तम पराक्रम कर। अर्थात् असुरकुल का संहार करने के लिए अवतार धारण करो।

मंत्र भागवत (गोकुल काण्ड) मंत्र ८

अदिति–पृथ्वी। वृत्र–असुरकुल।

देव इन्द्र को छोड़ रहे हैं क्योंकि असुरों ने गौ, ब्राह्मण और यज्ञ का नाश किया था और देवों को यज्ञभाग मिलना बंद हो गया था।

मंत्रभागवत-टीका-अनुसार अर्थ–

उस माता अदिति-भूमि ने महान् भगवान विष्णु से ये हितकारक वचन कहे–"असुर लोग गौ-ब्राह्मणों तथा यज्ञों का नाश कर रहे हैं। इस नाश के कारण अपने भाग को न प्राप्त करनेवाला देवगण हमारा त्याग करेगा। अतः हे परमाप्ततम भगवन्! आप असुरों का संहार करें और अति उत्कृष्ट पराक्रम करें।

१५२. श्रीकृष्णजन्म

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशोन्दुरिव पुष्कलः॥

श्रीमद्भागवत १०/३/८

अर्थ – जिस प्रकार पूर्व दिशा में पूर्णचन्द्र प्रकट होता है उसी प्रकार सर्व प्राणियों के हृदय में रहनेवाले भगवान विष्णु देवस्वरूप देवकी से प्रकट हुए।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश॥

मंत्र भागवत गो. का. १० अथर्व. ९/१०/१०

अर्थ – जिसने यह सारा प्रपंच (ब्रह्मांड) खड़ा किया है वह प्रपंच उसको नहीं जानता। जो इसे (इस दृश्यमान जगत् को) देखता है, उससे भी वह निश्चित रूप से भिन्न है। वह परमतत्त्व माता की योनि में जरायु से लिपटकर (कृष्णरूप से) भूमि पर अवतीर्ण होता है और अनेक प्रजावाला बनता है। (उनके १६१०८ स्त्रियाँ थीं और प्रत्येक से दस पुत्र तथा एक कन्या उत्पन्न हुई थी।)

१५३. अद्भुत कृष्णस्वरूप

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं
चतुर्भुजं शंखगदार्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥

श्रीमद्भागवत १०/३/९

अर्थ – उस समय वसुदेव ने उस अद्भुत बालक के दर्शन किये। उसके नेत्र कमल जैसे थे, उसके चार भुजाएँ थीं और उनमें शंख, चक्र, गदा तथा कमलरूप उत्कृष्ट आयुध धारण किये हुए थे। उसके शरीर पर

श्रीवत्स का चिह्न था, गले में कौस्तुभ मणि सुशोभित था, उन्होंने पीला पीतांबर पहना था और गाढे मेघ-सी सुन्दरता थी ।

चक्रं शंखं च संसिद्धिम् ।
गदा च कालिकासाक्षात् सर्वशत्रुनिर्बर्हिणी: ।।
धनु: शार्ङ्गं : स्वमाया च शरत्काल: सुभोजन: ।
अब्जकाण्डं जगद्बीजं धृतं पाणौ स्वलीलया ।।

कृष्णोपनिषद् २१/२२/२४

अर्थ – भगवान श्रीकृष्ण के चक्र और शंख संसिद्धि रूप है । समस्त शत्रुओं का ध्वंस करनेवाली गदा साक्षात् कालिका है । भगवान का शार्ङ्ग नामक धनुष्य उनकी माया है और उनका वन भोजन शरत्काल ही है । भगवान ने अपने हाथो में जो कमल धारण किया है वह जगत् का बीज है ।

१५४. श्रीकृष्ण का गोकुलगमन

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदित:
सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा
या योगमायाजनि नन्दजायया ।।
तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वा: स्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ ।
द्वारस्तु सर्वा: पिहिता दुरत्यया
बृहत्कपाटायसकीलशृंखलै: ।।
ता: कृष्णवाहे वसुदेव आगते
स्वयं व्यवर्यन्न तथा तमो रवे: ।
ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जित:
शेषोऽन्वगाद् वारि निवारयन् फणै: ।।

मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा
गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला।
भयानकावर्तशताकुला नदी
मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः॥
नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान्
गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया।
सुतं यशोदाशयने निधाय तत्
सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात्॥

श्रीमद्भागवत १०/३/४७-५१

अर्थ – फिर भगवान की प्रेरणा से वसुदेवजी ने जब पुत्र को लेकर सूतिका-गृह से बाहर निकलने की इच्छा की तब गोकुल में नन्द-पत्नी यशोदा ने योगमाया को जन्म दिया। उस योगमाया ने ज्ञानोपयोगी इन्द्रिय-वृत्तियाँ हर लीं और द्वारपालों तथा नगरवासियों को सुला दिया। तब वसुदेवजी श्रीकृष्ण को लेकर रवाना हुए। उस समय बड़े-बड़े किवाड़-लोहे के कील और सांकलों से बन्द किये हुए दरवाजे, सूर्य के आने पर अंधकार दूर होता है इस प्रकार, अपने आप खुल गये। मंद गर्जना करते बादल बरसने लगे और शेषनाग अपनी फणाओं से भगवान पर गिरनेवाले पानी को रोकते हुए वसुदेव के पीछे-पीछे चलने लगा। इस प्रकार बार-बार वर्षा हो रही थी तब यमुना नदी में पानी की भयंकर बाढ़ आई हुई थी, जिसके वेग से नदी में बड़ी-बड़ी लहरें उठ रही थीं, चारों ओर झाग ही झाग दीख रहे थे, सैंकड़ों भयंकर वमल उठ रहे थे, फिर भी समुद्र ने श्रीराम को रास्ता दिया था उसी प्रकार, यमुना ने वसुदेवजी को मार्ग दिया। अतः वसुदेवजी नंद के व्रज में निर्विघ्न पहुँच गये और सब ग्वालों को निद्राधीन देखकर यशोदा के शयन-स्थान में श्रीकृष्ण को रख दिया तथा उनकी पुत्री को लेकर पुनः कारागृह में पहुँच गये।

यद् गोपावददितिः शर्म भद्रं मित्रो यच्छन्ति वरुणः सुदासे।
तस्मिन्ना तोकं तनयं दधाना मा कर्म देवहेळनं तुरासः॥

मं. भा. गो. १५ ऋग्वेद १७/६०/८

अर्थ – जो स्थान गोपालकों से युक्त है और जहां अदिति, मित्र तथा वरुण, उत्सवादि का सुख एवं स्वास्थ्य प्रदान करते हैं, उस स्थान पर (गोकुल में) पुत्र को ले जाकर रखो। हे वसुदेव, तुम व्यग्रचित्त से त्रस्त होकर देवों की अवहेलना मत करो। (यह देवों की आज्ञा है।)

१५५. सर्वशक्तिमान की प्रार्थना

तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम्।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः।।

श्रीमद्भागवत १०/१/२०

अर्थ – क्षीरसागर के तट पर पहुँचकर ब्रह्मादि देवों ने जगत के नाथ और देवों के देव भगवान विष्णु की पुरुष-सूक्त से एकाग्र-चित्त होकर प्रार्थना की।

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा त्रिरूप नित्यया।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्।।

ऋग्वेद ८/७५/६ मं. भा. गो. ३

अर्थ – हे विशेष रूपवान जन! तू भी अपनी उत्तम और मधुर वाणी से उस यज्ञस्वरूप भगवान विष्णु की स्तुति कर, जो जगत के बीज रूप हैं एवं अगणित फल को देनेवाले हैं।

१५६. सत्स्वरूप श्रीकृष्ण

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।।

श्रीमद्भागवत १/२/२६

---

* अभिद्यवेः–अव्याकृताकाशस्य जगत्कारणस्य वीजरूपस्तस्मै।

अर्थ – हे भगवन् ! आप सत्यसंकल्प हैं। आपको प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन सत्य है। तीनों कालों में आप सत्यरूप ही हैं। पृथ्वी आदि पंच महाभूतों के उत्पत्ति-स्थान हैं और उनमें अन्तर्यामी के रूप में विराजते हैं। पंच महाभूतों का नाश होने पर भी आपका स्वरूप बाकी रह जाता है। आप सत्य वाणी तथा सर्वत्र समदर्शन के प्रवर्तक हैं। इस प्रकार सर्वत: सत्यस्वरूप आपकी हम शरण में आये हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।
मं. भा. गो. ४ ऋग्वेद १/१६४/४६

अर्थ – यद्यपि परमात्मा एक ही सत् तत्त्व हैं, पर उसका वर्णन ज्ञानी जन अनेक तरह से करते हैं। ऐश्वर्यवान् होने से वही इन्द्र, हितकारी होने से वही मित्र, श्रेष्ठ होने वरुण, प्रकाशक होने से अग्नि, उत्तम होने से सुपर्ण गरुत्मान् है। इसलिये भगवान् सत्यात्मक है।

१५७. कृष्णावतार

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ।।
श्रीमद्भागवत १०/३/८

अर्थ – जिस प्रकार पूर्व दिशा में पूर्णचन्द्र प्रकट होता है उसी प्रकार प्रणियों के हृदय में रहनेवाले भगवान् विष्णु देवस्वरूप देवकी में प्रकट हुए।

तत्कृष्णो रूपं कृत्वा प्राविशस्त्वं वनस्पतीन् ।
ततस्त्वामेकविंशतिधा संभरामि सुसंभृता ।।
मं. भा. गो. कां. ७

अर्थ – हे भगवन् ! आप श्रीकृष्ण के रूप में आनंदस्वरूप होने पर भी अपनी माया से आकाशादि के रूप से वनस्पति (स्थावर-जंगम) मे प्रवेश करते हैं। मैं वनस्पति से समिध के रूप में आपका ही चयन करता हूँ, क्योंकि समिध का भी पुरुष के इक्कीस रूपों में समावेश है।

१५८. नन्द

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः ।
आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलंकृतः ।।

श्रीमद्भागवत १०/५/१

अर्थ – गोकुल में अपने घर में पुत्र का जन्म हुआ अतः महामना नन्द को हर्ष हुआ । उन्होंने स्नान कर, पवित्र बन, अलंकार पहन ज्योतिष जाननेवाले ब्राह्मणों को बुलाया ।

मोदितास्ते सुराः सर्वे कृतकृत्याऽधुना वयम् ।
यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मौक्तिगेहिनी ।।

कृष्णोपनिषत् ३

अर्थ – कृष्ण-जन्म का प्रसंग उपस्थित होने पर सब देवता बहुत ही प्रसन्न हुए । वे कहने लगे––'अब हम कृतार्थ हुए हैं, क्योंकि कृष्ण को जन्म देने वाले नन्द परमानन्द-स्वरूप हैं और माता यशोदा साक्षात् मुक्तिरूप गृहिणी है ।'

१५९. रोहिणी

रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता ।
व्यचरद् दिव्यवासः स्रक्कण्ठाभरणभूषिता ।।

श्रीमद्भागवत १०/५/१७

अर्थ – महाभाग्यशालिनी रोहिणी भी नन्दराय तथा गोपालकों से सन्मान प्राप्तकर, दिव्य वस्त्र, पुष्पमाला एवं गले के आभूषणों से सुशोभित बनकर घूम रही थी ।

दया सा रोहिणी माता ।

कृष्णोपनिषद् १५

अर्थ – माता रोहिणी तो साक्षात् दयारूपिणी हैं ।

१६०. यशोदा

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी।
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि।।

श्रीमद्भागवत १०/९/१

अर्थ – एक बार घर की दासियाँ अन्य कार्यों में लगी हुई थीं इसलिए नन्दपत्नी यशोदा स्वयं दही मथ रही थीं।

(यशोदा मौक्तिगेहिनी।

कृष्णोपनिषद् ३

अर्थ – माता यशोदा साक्षात् मुक्तिरूपिणी है।

१६१. त्रिविधा माया

सात्त्विकी (भक्तों के लिए), राजसी (ब्रह्मा के लिए)
तामसी (दैत्यों के लिए)

विष्णोर्माया भगवती यया संमोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति।।

श्रीमद्भागवत १०/१/२५

अर्थ – जिसने जगत को मोहित किया है वह भगवती विष्णुमाया भी भगवान की आज्ञा से कार्य के लिए अंशतः अवतार धारण करेगी।

माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी।
प्रोक्ता च सात्त्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी।।

तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहृता।
अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा।।

गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः।
दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत्।।

कृष्णोपनिषद् ४, ५, १०

अर्थ – माया तीन प्रकार की बतलाई गई है––(१) सात्त्विकी, (२) राजसी, (३) तामसी। इनमें भगवान के रुद्ररूप में सात्त्विकी माया, ब्रह्मारूप भक्त में राजसी माया तथा दैत्य-पक्ष में तामसी माया है। यह वैष्णवी (भगवान विष्णु से उद्भूत) माया अजेय है। मायारूप शरीर धारण करनेवाले श्रीहरि ने गोपालक का स्वरूप धारण किया है। उन्होंने अपनी माया से जगत को मोहित कर दिया है। वह मोहान्धकार बड़ा ही दुर्बोध है।

१६२. गोपियाँ–वेदऋचाएँ, गौएँ–वेदऋचाएँ

गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्य–
श्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः।
नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजु–
र्व्यालोलकुण्डल पयोधरहार शोभाः॥

श्रीमद्भागवत १०/५/११

अर्थ – कृष्ण-जन्म के समय नन्दराय के घर की ओर जाती गोपिकाएँ रास्ते में सुशोभित हो रही थीं, क्योंकि उन्होंने कानों में स्वच्छ मणिजडित कुण्डल, गले में सुवर्ण के हार, रंगबिरंगे वस्त्र तथा हाथ में कड़े पहने थे। चंचल कुण्डलों, स्तनों तथा हारों से वे सुन्दर लग रही थीं।

गोप्यो गाव ऋचः।

कृष्णोपनिषद् ८

अर्थ – गोपियाँ तथा गौएँ वेद की ऋचाएँ हैं।

१६३. यष्टि–लकड़ी--ब्रह्मा, वंशी--वेणु–रुद्र, शृंग--इन्द्र

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृंग वेत्रेच कक्षे।

श्रीमद्भागवत १०/१३/११

अर्थ – भगवान श्रीकृष्ण बालक्रीड़ा करते हुए अपने बालमित्रों के साथ भोजन कर रहे थे, उस समय उन्होंने अपनी बाँसुरी अपने कटि-पट में दबा दी थी तथा शृंग और यष्टि को वे बगल में दवाये हुए थे।

यष्टिका कमलासनः।
वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः सगौसुरः॥

कृष्णोपनिषद् ८

दुर्जया सा सुरैः सर्वैर्धृष्टिरूपो भवद् द्विजः।
रुद्रो येन कृतो वंशस्तस्य माया जगत्कथम्॥

कृष्णोपनिषद् ११

अर्थ—भगवान श्रीकृष्ण की यष्टिका (लकड़ी) साक्षात् ब्रह्मा है, बाँसुरी शिवस्वरूप है और शृंग इन्द्र है। ऐसे भगवान की माया अजेय है। जगत उसको कैसे जान सकता है?

१६४. गोकुल-वैकुंठ, वृक्ष तपस्वी लोग, लोभ--बकासुर

निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः।
आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः॥

श्रीमद्भागवत १०/२२/३०

स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृक्।
आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद् बली॥

श्रीमद्भागवत १०/११/४८

अर्थ—गर्मी का समय था। व्रज में असह्य ताप पड़ रहा था। उस तीक्ष्ण ताप में वृक्ष छत्र की तरह भगवान श्रीकृष्ण पर छाया कर रहे थे। यह देखकर श्रीकृष्ण ने व्रजवासियों से कहा—'इन वृक्षों का जन्म धन्य है, क्योंकि इनका जीवन केवल परोपकार के लिए ही है।

बगुले का रूप धारण करने वाला वह 'बक' नामक भयंकर असुर था। यह बकासुर तीक्ष्ण चोंचवाला था। वह सहसा आकर श्रीकृष्ण को निगल गया।

गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः।
लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालस्तिरस्कृतः॥

कृष्णोपनिषद् ९

अर्थ—गोकुल का वनप्रदेश साक्षात् वैकुण्ठ ही है, वहाँ के वृक्ष तपस्वी-जन हैं और बकादि दैत्य लोभ-क्रोध वगैरह ही हैं।

१६५. बलराम--श्रीकृष्ण

तमुद्वहन् धरणिधरेन्द्रगौरवं।
महासुरो विगतरयो निजं वपुः।।

श्रीमद्भागवत १०/१८/२६

अर्थ – बलराम एक बड़े पर्वत के समान भारी थे। अतः उनको उठाकर ले जाते समय प्रलंबासुर का वेग बहुत कम हो गया। तब उसने अपना राक्षसी स्वरूप प्रकट किया।

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽनस्रसुखो निरंजनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः।।

श्रीमद्भागवत १०/१४/२३

अर्थ – हे भगवन्! आप ही सत्यस्वरूप हैं, क्योंकि आत्मा एवं सर्व के आदि अर्थात् कारण हैं। आप पुराण अर्थात् सर्व कार्यों के पहले भी रहते हैं, क्योंकि आप पुरुष है। आप नित्य हैं। आप पूर्ण हैं, क्योंकि आप अनन्त एवं अद्वैत हैं। आप स्वयं ज्योति हैं, उपाधि से मुक्त तथा निरंजन हैं। इसलिए आप अमृत अर्थात् नाशरहित हैं। आप निरन्तर सुखवाले अर्थात् विपरिणाम से रहित तथा अक्षर अर्थात् अपक्षय से रहित हैं।

(१) बलराम

शेषनागो भवेद्रामः।

कृष्णोपनिषद् १२

अर्थ – बलराम साक्षात् शेषनाग ही है।

(२) श्रीकृष्ण

कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्।

कृष्णोपनिषद् १२

अर्थ – श्रीकृष्ण शाश्वत ब्रह्म ही हैं।

१६६. सोलह हजार एक सौ आठ स्त्रियाँ--
वेद-उपनिषद् की ऋचाएँ

एवं मनुष्यपदवीमनुवर्तमानो
नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः।
रेमेऽङ्ग षोडशसहस्रवराङ्गनानां
सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः॥

श्रीमद्भागवत १०/६९/४४

अर्थ – इस प्रकार मनुष्यों के कर्तव्य मार्ग का आचरण करनेवाले भगवान नारायण ने सर्व के कल्याण के लिए अनेक मूर्तियाँ रूप शक्तियों का स्वीकार कर, सोलह हजार स्त्रियों की लज्जायुक्त प्रेमदृष्टि तथा हास्य से सेवित होकर उनके साथ क्रीड़ा की थी ।

अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्या स्त्रियस्तथा।
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः॥

कृष्णोपनिषद् १३

अर्थ – भगवान की सोलह हजार एक सौ आठ स्त्रियाँ वेद की ऋचाएँ एवं उपनिषद् मन्त्र ही हैं ।

१६७. चाणूर-द्वेष, मुष्टिक-मत्सर और कुवलयापीड-दर्पयुक्त मन

(१)

जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च।
कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत्॥

श्रीमद्भागवत १०/४३/३१

अर्थ – जन-समुदाय बलराम और कृष्ण के विषय में प्रशंसा-वचन बोल रहे थे और अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे तब मल्ल चाणूर ने श्रीकृष्ण और बलराम को सम्बोधित कर यह वाक्य कहा ।

(२)

एवं चर्चितसंकल्पो भगवान् मधुसूदनः।
आससादाथ चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः॥

श्रीमद्भागवत १०/४४/१

अर्थ – चाणूर का आह्वान स्वीकार कर और निश्चित संकल्प कर भगवान कृष्ण चाणूर के साथ और बलराम मुष्टिक के साथ मल्लयुद्ध करने लगे।

(३)

रङ्गद्वारं समासाद्य तस्मिन् नागमवस्थितम्।
अपश्यत् कुवलयापीडं कृष्णोऽम्बष्ठप्रचोदितम्॥

श्रीमद्भागवत १०/४३/२

अर्थ – वहाँ मल्लों के अखाड़े के द्वार पर आने पर श्रीकृष्ण ने महावत से प्रेरित कुवलयापीड हाथी को खड़ा देखा।

द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः॥
दर्पः कुवलयापीडो........॥

कृष्णोपनिषद् १४

अर्थ – यह जो मल्ल चाणूर है वह द्वेष है, मुष्टिक है वह मत्सर है और कुवलयापीड दर्प (अभिमान) है।

१६८. रोहिणी-दया, सत्यभामा-पृथ्वी, अघासुर पाप और कंस-कलि

(१)

रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता।
व्यचरद् दिव्यवासः स्रक्कण्ठाभरणभूषिता॥

श्रीमद्भागवत १०/५/१७

अर्थ – श्रीकृष्ण-जन्म के महोत्सव पर महाभाग्यशाली रोहिणी भी नन्दराय तथा गोपालकों का सम्मान प्राप्त कर दिव्य वस्त्र, पुष्पमाला तथा गले के आभूषणों से सुशोभित होकर घूम रही थी।

(२)

तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि।
बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/५६/४३

अर्थ – भगवान ने शील, रूप, उदारता आदि गुणों से युक्त तथा इसीलिए अनेक पुरुषों द्वारा प्राप्त करने की इच्छा की हुई उस सत्यभामा के साथ विधिपूर्वक लग्न किया।

(३)

अथाघनामाभ्यपतन्महासुर–
स्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः
पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ।।

श्रीमद्भागवत १०/१२/१३

अर्थ – फिर अघासुर नाम का एक भयंकर असुर उन बालकों की सुखपूर्ण क्रीड़ा देखकर ईर्ष्यावश वहाँ आ पहुँचा। वह इतना भयंकर था कि अमृतपान कर अमर बने हुए देव भी उससे अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए चितातुर रहते थे और सदा उसकी मृत्यु की प्रतीक्षा करते थे।

(४)

इत्युक्तः स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः।
भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत् ।।

श्रीमद्भागवत १०/१/३५

अर्थ – आकाशवाणी को सुनकर भोजवंशी राजाओं के कुल को कलंकित करनेवाला वह दुष्ट पापी कंस तलवार लेकर अपनी बहन देवकी को मारने के लिए तैयार हुआ और उसके केश पकड़ लिये।

दया सा रोहिणी माता
सत्यभामा धरेति वै।
आघासुरो महाव्याधिः
कलिः कंसः स भूपतिः॥

कृष्णोपनिषद् १५

अर्थ – माता रोहिणी दया, सत्यभामा पृथ्वी, अधासुर महाव्याधि और राजा कंस कलियुग ही है।

१६९. सुदामा-शम, अक्रूर-सत्य और उद्धव-दम

(१)

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तम।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः॥

श्रीमद्भागवत १०/८०/६

अर्थ – एक ब्राह्मण (सुदामा) श्रीकृष्ण का मित्र था। वह श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता, इन्द्रियों के विषय में विरक्त, अत्यन्त शान्त अन्तःकरणवाला और जितेन्द्रिय था।

(२)

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम्॥

श्रीमद्भागवत १०/३८/१

अर्थ – महाबुद्धिमान अक्रूर ने भी उस रात्रि को मथुरा में रहकर प्रातःकाल रथ में बैठकर नन्द के गोकुल की ओर प्रयाण किया।

(३)

वृष्णीनां प्रवरो मंत्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षाद् उद्धवो बुद्धिसत्तमः॥

श्रीमद्भागवत १०/४६/१

अर्थ – महाबुद्धिशाली उद्धव यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण के प्रिय मित्र, मंत्री और साक्षात् बृहस्पति के शिष्य थे।

शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः।

कृष्णोपनिषद् १६

अर्थ – श्रीकृष्ण का मित्र सुदामा शम है, अक्रूर सत्य है और उद्धव दम है ।

१७०. श्रीकृष्ण के अवतार का कारण

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

श्रीमद्भगवद्गीता ४/८

अर्थ – सज्जनों-भक्तों की रक्षा करने के लिए पापियों का नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना करने के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश।।

ऋग्वेद १०/१२५/६

अर्थ – मैं परमात्मा साधुओं की रक्षा के लिए, रुद्ररूप ऋषियों-साधुओं को रुलानेवाले, वेद और ब्राह्मण के द्वेषी, हिंसा करने वाले पापी जीवों को मारने के लिए, उनकी क्रूरता को नाश करने वाली कमान को भलीभाँति चारों ओर विस्तृत करता हूँ । मैं भक्त के लिए संग्राम को करता हूँ और विशेष विभूतिरूप से एकदेश में उतरा हुआ मैं आकाश और पृथिवी में प्रविष्ट होकर रहता हूँ ।

अनुव्रताय रन्धयन्नपव्रतानाभूभिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः।
बुद्धस्य चिद्वर्धतो द्यामिनक्षतः स्तवानो वभ्रो वि जघान संदिहः।।

ऋग्वेद १/५१/९

अर्थ – सर्वेश्वर्यसम्पन्न परमात्मा अच्छे व्रतादि नियमों का पालन करने वाले सज्जन के लिए, दुष्कर्म करने वाले पापियों को या व्रतादि नियमों का उल्लंघन करने वाले दुष्ट पुरुषों को नष्ट करता हुआ, सम्मुख स्तुति करने वाले भक्तों से, निंदक दुष्ट पुरुषों का नाश करता है । सबसे बड़े और वृद्धि को प्राप्त होते हुए आकाश को व्याप्त करने वाले परमात्मा की ही स्तुति करने वाला पुरुष स्तुति करता हुआ तथा कर्म और ज्ञान की वृद्धि को प्राप्त होता हुआ विघ्नों से रहित होकर दुष्ट संगति को त्याग देता है ।

ऋतं पिपर्त्यनृतं निपाति ।

अथर्व. ९/१०/२३

अर्थ – परमात्मा सत्य को पूर्ण करता है और असत्य को नष्ट करता है ।

१७१. चक्र-ब्रह्मेच्छा (तेजस्तत्त्व), चमर-वायु और खड्ग-महेश्वर

तान् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः ।
सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत् पुरः ।।

श्रीमद्भागवत १०/८९/५०

अर्थ – यह देखकर योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान कृष्ण ने हजारों सूर्य के समान अपने चक्र को प्रेरित किया ।

तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक् ।
जयन्ती संभवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः ।
यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः ।।

कृष्णोपनिषद् १९/२०

अर्थ – भगवान का चक्र ब्रह्मरूप ही है, चमर वायु और अग्नि के समान देदीप्यमान खण्ड साक्षात् महेश्वर ही हैं ।

१७२. ऊखल-कश्यप, डोर-अदिति

उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम्।
कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः।।

श्रीमद्भागवत १०/११/३

अर्थ – वे दोनों अर्जुन-वृक्ष गिर पड़े, उसका कारण डोर से बँधे और ऊखल को खींचते कृष्ण ही थे, परन्तु यह न मानकर लोग 'यह किसने किया ? किस कारण ऐसा हुआ ? कैसा उत्पात हुआ ?' इस प्रकार भयभीत हो भ्रम में पड़े।

कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्मातादितिस्तथा।

कृष्णोपनिषद् २१

अर्थ – ऊखल भगवान कश्यप और रज्जु देवों की माता अदिति है।

१७३. कौमोदकी गदा-कालिका, धनुष्य (क्रोध)-माया और कमल-जगद्बीज

(१)

कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत।

श्रीमद्भागवत ३/२८/२८

अर्थ – शत्रुयोद्धाओं के रक्त में सनी और भगवान को प्रिय कौमुदकी गदा है।

(२)

नभोनिभं नभस्तत्त्वमसिं चर्म तमोमयम्।
कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयेषुधिम्।।

श्रीमद्भागवत १२/११/१५

अर्थ – भगवान आकाशतत्त्व को आकाश के समान तलवार के रूप में धारण करते हैं। वे अधकाररूपी ढाल, कालरूप शाङ्र्ग धनुष तथा कर्ममय तूणीर को धारण करने हैं।

(३)

अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः ।
धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते ।।

श्रीमद्‌भगावत १२/११/१३

अर्थ – मूल प्रकृति ही भगवान की शेषशैया है । उस पर भगवान बैठे हुए हैं । उस आसनरूप कमल को धर्म तथा ज्ञान आदि से युक्त सत्त्वगुण कहा है ।

गदा च कालिका साक्षात् सर्वशत्रुनिर्बर्हिणी ।
धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च ।।
अक्षकाण्डं जगद्बीजम् ।

कृष्णोपनिषद् २३-२४

अर्थ – भगवान की कौमोदकी गदा, जो शत्रुओं का संहार करनेवाली है, साक्षात् कालिका ही है । उनका शाङ्‌र्ग नाम धनुष्य उनकी माया है और उनके हाथ में रहा हुआ कमल जगत् का बीजरूप है ।

१७४. पूतना-वध

कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी ।
शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु ।।

श्रीमदभागवत १०/६/२

अर्थ – कंस ने बालकों का नाश करनेवाली पूतना नाम की एक भयंकर राक्षसी को भेजा था ।

हेतिः पक्षिणी नदभात्यस्मानाष्यापदं कृगुते अग्निधाने ।
शन्नो गोभ्यश्व पुरुषेभ्यश्चास्तु मानो हिंसीदिहदेवाः कपोतः ।।

अथर्ववेद ६/२७/३ / मं० भा० गो० २१

अर्थ – आयुध की तरह मृत्युरूपिणी पक्षिणी (पूतना) हमारा नाश करने के लिए आई है । परन्तु वह हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती । अग्नि की तरह जाज्वल्यमान कृष्ण को स्तनपान कराते हुए वह अग्नि में भस्म हो गई । अब हमारा, हमारी गौओं का तथा समस्त पुरुषों का कल्याण हो । हे देवो ! मृत्यु का दूत हमारा नाश न करे ।

१७५. पूतना-अविद्या

पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् ।
चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत् तदद्भुतम् ॥

श्रीमद्भागवत १०/६/१४

अर्थ – पूतना के शरीर ने गिरते-गिरते भी छः कोस के भीतर आये हुए वृक्षों को तहस-नहस कर डाला, यह बड़ा आश्चर्यजनक था ।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

योगसूत्र २/५

अर्थ – अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख तथा अनात्मा को आत्मा मानना ही अविद्या है ।

सुबोधिनी अथवा भागवतार्थ प्रकरण–अविद्या पूतना ।
पूतना ही अविद्या है ।

१७६. तृणावर्त और शकट-नाश

गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः ।
अव्यक्तरावो न्यपतत् सहबालो व्यसुर्व्रजे ॥

श्रीमद्भागवत १०/७/२८

अर्थ – वह तृणावर्त दैत्य कृष्ण द्वारा गले से दृढ़तापूर्वक पकड़े जाने पर मूर्छित हो गया, उसकी आँखें बाहर निकल गईं, आवाज विकृत हो गई और प्राणरहित होकर बालक श्रीकृष्ण के साथ व्रज में गिर पड़ा ।

साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना ।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥

ऋग्वेद १०/९७/१३ मं० भा० गो० २२

अर्थ – (झंझावात का रूप लेकर आये हुए तृणावर्त द्वारा श्रीकृष्ण को उड़ा ले जाने पर देवगण उसकी भर्त्सना करते हैं––) हे झंझावात रूप राक्षस ! चाषवर्ण के तथा अस्फुट वाणी बोलते हुए क्रीड़ा करने वाले

श्रीकृण के साथ तू अन्तरिक्ष से नीचे गिर पड़ । चन्द्रमा को स्पर्श करने वाले वात्याचक्र के साथ गिरकर, हाहाकार की तीव्र वेदना के साथ तू एकदम नष्ट हो ।

पृथु रथो दक्षिणाया अयोज्यै नं देवासो अमृतासो अस्थुः ।
कृष्णादुदस्थादर्या विहायाश्चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय ।।

मं भा गो २० ऋग्वेद १/१२३/१

अर्थ - असुरों ने मृत्युदूत की तरह शकटासुर को नियुक्त किया । देव उसे घेरकर खड़े हो गये, पर उसको नष्ट नहीं कर सके । उस शकटरूप असुर को कृष्ण ने आकाश की ओर उड़ा दिया । श्रीकृष्ण उस समय मानवरूप में रहे हुए थे । अत: यह देखकर लोगों को भारी आश्चर्य हुआ कि शकटासुर कृष्ण का कुछ भी नहीं बिगाड़ सका ।

१७७ शकटभंजन

अधःशयानस्य शिशोरनोऽल्पक–
प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत ।
विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं
व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/७/७

अर्थ – उस समय गाडे के नीचे सोये हुए बालक कृष्ण के कोंपल जैसे कोमल पैर लगने से गाडा उलट गया और उसके ऊपर रहे हुए भाँति-भाँति के रसों से भरे हुए कांसे आदि के पात्र टूट गये, पहिये और धुरी बिखर गये तथा धूँसरी की लकड़ी भी टूट गई ।*

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः ।
एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ्‌ समाहितः ।।

अथर्ववेद ४/११/८

अर्थ – संचालक देव का वह मध्यभाग है, जिसपर इस संसाररूपी शकट का भार रखा हुआ है । इस मध्यभाग के पूर्वभाग में एवं पश्चिम भाग में यह संसार रहा हुआ है। *

---

* भगवान संसाररूपी शकट के नीचे रहते हैं ।

* जगदेव हरिर्हरिरेव जगत् ।

१७८. मुख में विश्वदर्शन

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः
सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च ।
द्वीपान् नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि
भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ।।
सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन् संजातवेपथुः ।।
संमील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता ।।

श्रीमद्भागवत १०/७/३६-३७

अर्थ – बालक कृष्ण के जम्हाई लेते ही यशोदा ने उनके मुख में आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, नक्षत्रगण, दिशा, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्रों, द्वीपों, पर्वतों, नदियों, वनों तथा स्थावर-जंगम सर्व प्राणियों को देखा। हे राजन्! सम्पूर्ण जगत को पुत्र के मुंह मे देखकर मृगी के समान नेत्रोंवाली यशोदा एकदम काँप उठी और आंखें मूंदकर अत्यन्त विस्मित हुई।

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।
भूतं च यत्र भव्यञ्च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।।
स्कंभं तं ब्रूहि ।। अथर्व. १०/७/१२

अर्थ – हे जीवात्मन्! जिस परमात्मा के स्वरूप में सब सूर्य तथा प्रकाश करनेवाले चन्द्र, विद्युत्, तारा, अग्नि भी तथा एकादश रुद्र और आठ वसुगण भली प्रकार स्थित हैं और परमात्मा के जिस स्वरूप में जगत् और सारे लोक-लोकान्तर स्थित हैं, उसे ब्रह्म कह।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षंद्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि ।।

अथर्व १०/७/७२

अर्थ – जिस परमात्मा के (विराट्) स्वरूप में भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, वायु स्थित है, उसे ब्रह्म कह।

१७९. यशोदा को फरियाद

कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम्।
शृण्वत्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः॥

श्रीमद्भागवत १०/८/२८

अर्थ–गोपियाँ श्रीकृष्ण की कुमारावस्था की सुन्दर चपलता को देखकर एकत्र हुईं और माता यशोदा को फरियाद करने लगीं।

अयं रोचयदरुचो रुचानोऽयं वासयद्वयं तेन पूर्वीः।
अयमीयत ऋतयुग्भिरश्वैः स्वर्विदानाभिनाचर्षणिप्राः॥

मन्त्र भागवत गो० २७

अर्थ – यह तुम्हारा पुत्र छिपाकर रखे हुए गोरस (दही, दूध वगैरह) को खा जाता है और फिर दिखावा करता है मानो वह चोर न हो। यदि कोई स्त्री इसे धमकाती है तो उसे विवश कर देता है। यह इसको पकड़ना भी सम्भव नहीं, क्योंकि यह वेगवान् अश्व से भी अधिक गति से भाग जाता है। यह बड़ा चटोरा है और मिष्ट पदार्थों की मौज उड़ाने में लोक-मर्यादा का ख्याल नहीं रखता।

१८०. कामना–त्याग से ही शान्ति

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥

श्रीमद्भागवत १०/१२/११

अर्थ – जिन्होंने पूर्वजन्म में खूब पुण्य किये थे ऐसे ग्वाल-बाल, ज्ञानियों को परब्रह्म रूप से, दासत्व को प्राप्त होने वाले भक्तजनों को परम दैवत नाथ रूप से और माया का आश्रय करनेवाले अज्ञानियों को नर बालरूप से दर्शन देनेवाले श्रीभगवान के साथ खेल रहे थे।

नैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥

श्रीमद्भागवत ११/८/३८

अर्थ – मैं (पिंगला) यदि मंद भाग्यशाली होती तो ऐसे वैराग्य-कारण (क्लेशादि) कभी उत्पन्न न होते। जिस वैराग्य से पुरुष घर आदि बन्धनों को छोड़कर शान्ति को प्राप्त करते हैं।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

कठोपनिषद् २/१४/१४

अर्थ – जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ, जो कि इसके हृदय में आश्रय करके रहती हैं, छूट जाती हैं उस समय वह मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है और इस शरीर से ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

१८१. श्रीकृष्ण सर्वरूप

यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्र्यादिकं।
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद् विभूषाम्बरम्॥
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं।
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

श्रीमद्भागवत १०/१३/१९

अर्थ – भगवान कृष्ण ने ग्वाल-बालों तथा बछड़ों का रूप धारण किया। ग्वाल-बालों तथा बछड़ों के जितने छोटे-छोटे शरीर हाथ-पैर आदि, लकड़ियाँ सींग, बाँसुरी, पुष्पपत्र और सींक जैसे आभूषण तथा वस्त्र, उनके-से स्वभाव, गुण नाम, आकृतियाँ एवं उम्र तथा जैसे जिसके खेलकूद वगैरह थे, उसी प्रकार कृष्ण सर्वस्वरूप बने। इससे अजन्मा श्रीकृष्ण 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' यह वेदवाणी ही मानो अर्थरूप में प्रत्यक्ष हुई हो इस प्रकार शोभित हुए।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः।।

अथर्ववेद १०/७/१२

अर्थ – जिस विराटरूप परमात्मा में भूमि, आकाश और आकाशस्थ सूर्य-चन्द्रादि व्याप्यरूप होकर स्थित हैं और जिसमें अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु समाये हुए स्थित हैं अर्थात् अकेले विश्वरूप परमात्मा से घिरे हुए हैं।

१८२. धेनुकासुर-नाश;

समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली।
निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् खलः।।
पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः:।
चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद् रुषा।।
स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैक पाणिना।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम्।।

श्रीमद्भागवत १०/१५/३०-३२

अर्थ – वहाँ आकर उस दुष्ट धेनुकासुर ने बलराम के वक्ष-स्थल में दोनों पैरों से प्रहार किया और भौंकते हुए घूमने लगा। अब दूसरी बार अत्यन्त क्रोधावेश में वह बलराम की तरफ पीठ कर पिछले पैरों से प्रहार करने को उद्यत हुआ तब बलराम ने अपने एक हाथ से उसके दोनों पैर पकड़ लिए और जोर से उसको घुमाया। इसके बाद उसको एक तालवृक्ष में मूल में पछाड़ा, जिससे उसका नाश हो गया।

समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ।।

ऋग्वेद १/२९/५

अर्थ – हे इन्द्र ! इस पाप विचारमयी वाणी से बोलने वाले गधे का वध करो ।

हे परमेश्वर, लोग श्रद्धा रखते हैं कि हम सहस्रावधि शुभ्र रूपवान गाय और अश्व वाले हों ।

१८३. कालियदमन

कालिन्द्यां कालियस्यासीद्ध्रदः कश्चिद् विषाग्निना ।
श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ।।

श्रीमद्भागवत १०/१६/४

अर्थ – यमुना नदी में कालिय नाग का एक खड्ड था । उसका पानी विषाग्नि के समान खौलता रहता । उसके ऊपर से उड़नेवाले पक्षी विष के प्रभाव से उस खड्ड में गिर जाते ।

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान ।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः ।।

ऋग्वेद १/३२/७

अर्थ – कालिय सर्प था । उसको हाथ-पैर नहीं थे । फिर भी उसने श्रीकृष्ण से युद्ध किया । श्रीकृष्ण ने कालिय के मस्तक पर वज्राघात किया । परिणामस्वरूप भगवान का चरणचिन्ह उसके मस्तक पर अंकित हो गया । चर्मपट्टिका के समान निस्तेज कालिय उस वज्ररेखा (पदचिह्न) से व्यस्त बना ।

१८४. वेणुनाद

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै–
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ।।

श्रीमद्भागवत १०/२१/५

अर्थ – श्रीकृष्ण ने उत्तम नट-सा शरीर धारण किया था, मस्तक पर मोरपिच्छ का मुकुट पहना था, दोनों कानों में कांचनार के दो पुष्प लगाये थे, सुवर्ण-समान पीले वस्त्र धारण किये थे और वैजयन्ती माला पहनी थी । वे बाँसुरी के छिद्रों को अधरोष्ठ के अमृत से भर रहे थे और ग्वालों के टोले उनकी कीर्ति गा रहे थे । ऐसे श्रीकृष्ण ने अपने पद-चिह्नों से सुन्दर वृन्दावन में प्रवेश किया ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य–
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।।

मुंडक ३/२/३

अर्थ – यह आत्मा न तो प्रवचन (पुष्कल शास्त्राध्ययन) से प्राप्त होने योग्य है और न मेधा (धारणा शक्ति) तथा अधिक श्रवण करने से ही मिलने वाला है । यह परमात्मा जिसकी प्राप्ति की इच्छा करता है उस (इच्छा) के द्वारा ही इसकी परमात्मा से प्राप्ति हो सकती है । उसके प्रति यह आत्मा अपने आपको समर्पण करता है ।

१८५. गिरिराज-धारण

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ।।

श्रीमद्भागवत १०/२५/१९

अर्थ – (जिसे मेरा ही शरण है, जिसका मैं स्वामी हूँ और जिसको मैं अपना समझता हूँ उस व्रज का मैं अपने योगबल से रक्षण करूँगा)। यह कहकर श्रीकृष्ण ने, बालक जिस प्रकार छतरी को उठाता है उसी प्रकार एक हाथ से खिलवाड़ करते हुए से गोवर्धन पर्वत को उठा लिया ।

आ ग्रावभिरहन्येभिरक्तुभिर्वरिष्ठं वज्रमा जिघर्ति मायिनि।
शतं वा यस्य प्रचरन् त्स्वे दमे संवर्तयन्तो विच वर्तयन्नहा।।
मं० भा० १५

तामस्य रीतिं परशोरिव प्रत्यनीकमख्य भुजे अस्य वर्पसः।
स चा यदि पितुमन्तमिव क्षयं रत्नं दधातिभरहूतये विशे।।
ऋग्वेद ५/४८/३, ४ मं० भा० १६

अर्थ – जिस इन्द्र के अपने घर में सैंकड़ों प्रलयंकर सांवर्तक नाम के मेघगण घूमते-फिरते और गर्जना करते रहते हैं, उस इन्द्र की पूजा का त्यागकर पर्वत (गोवर्धन) की पूजा का प्रारम्भ करने वाले माया-नर्तक भगवान् श्रीकृष्ण पर सात रात्रियों तक वर्षा होती रही। उसकी यह रीति परशु की तरह जीवन को नष्ट करने वाली है, यह जानकर उसके शत्रुरूप गोवर्धन पर्वत को भगवान ने अपने हाथ में धारण किया। इस प्रकार उन्होंने प्रजा के लिए कल्याणकारक पर्वत के भार को उठाना अंगीकार किया।

१८६. वरुण-पूजन

अद्य मे निभृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो।
त्वत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः।।
नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने।
न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना।।
अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना।
आनीतोऽयं तव पिता तद्भवान् क्षन्तुमर्हति।।
ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्तुं मर्हस्यशेषदृक्।
गोविन्द नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल।।
श्रीमद्भागवत १०/२८/५-८

अर्ध – (वरुण ने कहा)–हे प्रभु, मैंने यह जो देह धारण किया है वह आज आपके दर्शन से सफल हुआ है। आज मुझे सर्व अर्थ मिल गये हैं। हे भगवान, आपके चरणों को भजने वाले संसार-मार्ग के पाररूप मोक्ष को

प्राप्त हुए हैं । पूर्ण परमात्मा भगवान को मं नमस्कार करता हूँ । आपके विषय में लोक सृष्टि का निर्माण करने वाली माया का अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा वेद कहते हैं । भगवद्धर्म को न जानने वाला और इसीलिए यह अकार्य करने वाला मेरा मूर्ख सेवक आपके पिता को यहाँ ले आया है, इसके लिए आप मुझे क्षमा करें । हे कृष्ण ! आप सर्व के द्रष्टा हैं और मुझ पर कृपा करने योग्य हैं । पिता के ऊपर प्रेम रखनेवाले हे गोविन्द ! अपने पिता को आप ले जाइए ।

तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः । दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते ।।

ऋग्वेद १/१५६/४ मं० भा० वृ० १७

अर्थ – तेजस्वी वरुण और अश्विनौ आदि सभी देव इस विष्णु के द्वारा बताये गये मार्ग से चलते और उसके बताये अनुसार कर्म करते हैं अर्थात् सभी देव इसी विष्णु के अधीन होकर अपना-अपना कार्य करते हैं । यह विष्णु अपनी शक्ति से दिन को प्रकट करता है और मेघों को छिन्न-भिन्न करके पानी बरसाता है ।

१८७. गोपी-गीतम्

गोप्य ऊचुः–

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावका–
स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ।

श्रीमद्भागवत १०/३१/१

अर्थ – (जब आठवर्षीय बालक श्रीकृष्ण गोपिकाओं के साथ यमुना नदी के तट पर खेल-कूद कर रहे थे तब उनसे पृथक् होकर अन्तर्धान हो गये । उस समय गोपियाँ कृष्ण को अपने पास न देखकर पुकारने लगीं)––

(दयित) हे प्रिय कृष्ण ! (ते) तुम्हारे प्रादुर्भाव से (व्रज) गोकुल ग्राम (अधिक) अत्यन्त (जयति) शोभित हो रहा है; क्योंकि आप यहाँ प्रकट हुए हैं। इसीलिए (इन्दिरा) आपके उर:स्थल में वास करने वाली लक्ष्मी भी (शश्वत) निरन्तर (अत्र) इस व्रजभूमि में आपके चरण-कमलों की सेवा के लिए (श्रियते) गोकुल को अलंकृत करती हुई वास करती है। (दृश्यताम्) हे भगवन् कृष्ण! देखिए। (तावका:) आपके दर्शनेच्छुक गोपियाँ और गोप आपके लिए ही (धृतासव:) प्राणों को धारण करते हुए (दिक्षु) चारों दिशाओं में (त्वाम्) अन्तर्धान हुए आपको (विचिन्वते) ढूँढ़ते हैं, अत: आप हमें दर्शन दें।

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ।।

ऋग्वेद १/१५४/५

अर्थ – इस महान् श्रीकृष्णचन्द्र के परम प्रिय सब भगवद्भक्तों से सेवित होने के कारण प्रसिद्ध व्रजभूमि को प्राप्त करूँ, यह परमात्मा के भक्तों का आशय है। जिस व्रजभूमि में स्वप्रकाश से प्रकाशमान विष्णु अर्थात् श्रीकृष्ण को प्राप्त करने की कामना वाले मनुष्य तृप्ति का अनुभव करते हैं। वह भगवद्भक्त निश्चय से अत्यन्त सर्वव्यापक होने से गतिशील परमात्मा का बन्धुरूप हो जाता है, यह सत्य ही है। सर्वव्यापक परमात्मा कृष्ण का अत्युत्कृष्ट सुस्वरूप व्रजभूमि में मधुर दर्शन का झरना झरता है।

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
स उदेयिवान् सात्वतां कुले ।।

श्रीमद्भागवत १०/३१/४

अर्थ – हे सखे कृष्ण ! आप केवल श्री यशोदा के पुत्र नहीं हो, सब प्राणियों और अप्राणियों के अन्तरात्मा के साक्षीरूप अर्थात् सब में व्यापकरूप हो। ब्रह्माजी द्वारा अधर्मियों के नाश के लिए साधु तथा भक्तों की रक्षा के लिए अर्थात् सारे जगत की रक्षा के लिए प्रार्थना किये हुए आप

यदुकुल में प्रकट हुए हैं । अतः आप भक्तों की रक्षा के लिए उपेक्षा न करें ।

अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धियं ते वदामि ।

ऋग्वेद १०/१२५/४ अथर्ववेद ६/३०/४

अर्थ – ('न गोपिकानन्दनो भवान्' इस पर वेद आज्ञा करता है)– (अमन्तवः) जो (मां) मुझ परमात्मा को भगवदवताररूप न माननेवाले (ते) वे सांसारिक जीव (उपक्षीयन्ति) विनष्ट हो जाते हैं अर्थात् अधोगति को प्राप्त होते हैं । (श्रुत) हे सुननेवाले ज्ञानी पुरुष । (श्रुधि) मैं अन्तर्यामी रूप से जो कहता हूँ उसे सुनो । (ते) तुझे (श्रद्धेयं) सत्यभाव से धारण करने योग्य वचन को (वदामि) मैं कहता हूँ ।

विशं विशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा ।

ऋग्वेद १०/४३/६ अथर्ववेद २०/१७/६

अर्थ – (अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्)–वृषा भक्तजनों की कामनाओं की वर्षा करने वाला (मघवा) पूज्य परमात्मा (विशं विशं परि अशायत) प्राणी और अप्राणी पदार्थों के मध्य में शयन करनेवाला है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ के अन्दर वास करता है । (जनानां धना:) सब प्राणियों के स्तुति-निन्दात्मक वचनों को (अवचाकशन) सबके हृदय में वास करता हुआ सब कर्मों को देखता है ।

तुलना करें––

(१) अथापि एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।
(श्वेताश्वतर ६/११)

(२) एष मे आत्मान्तर्हृदये । (छान्दोग्य ३/१४/३)

(३) अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म (हृदयकमलगृहं) दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः । (छान्दोग्य ८/८/१)

(४) एकं वा इदं विबभूव सर्वम । (मुण्डक २/१/४)

(५) यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् । यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति ।
(बृहदारण्यक ३/७/१५)

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते
चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्तकामदं
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/३१/५

अर्थ – हे यादववंश में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! सांसारिक जन्ममृत्यु के भय से आपके चरणों में शरण प्राप्त होने वाले हम ब्रजवासियों के अभयदान देने वाले, प्रिय भक्तों की कामनाओं को देने वाले और लक्ष्मी के हाथों को ग्रहण करने वाले आपके हस्तकमल को हम ब्रजवासियों के सिर पर धारण करो अर्थात् हमें अपने करछत्र की छाया में रखो ।

आ नो भर दक्षिणेनाऽभि सव्येन प्रमृश ।
इन्द्र मा नो वसोर्निर्भाक् ।।

ऋग्वेद ८/८१/६

अर्थ – (इन्द्र) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न गोविन्द ! (नः) हम ब्रजवासियों की रक्षा के लिए (दक्षिणेन) अपने दक्षिण हाथ से (आभर) पालन करो अर्थात् रक्षा करो । हमारे सिर पर दक्षिण हाथ की छाया कर (सव्येन) और सव्य अर्थात् बायें हाथ से भी (अभिप्रमश) हमारे हृदयों को शुद्ध करो। (नः) हमें (वसोः) ब्रजभूमि के वासस्थान से अथवा गोधन से (मा निर्भाक्) पृथक् मत करो । अर्थात् हम ब्रज में ही वास करें ।

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं
तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिकणार्पितं ते पदांबुजं
कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/३१/७

अर्थ – हे भगवन् कृष्ण ! आपके चरणों में नमस्कार करनेवाले के पापों के नाशक, गौओं के पीछे-पीछे चलनेवाले, लक्ष्मी के निवासस्थान, कालियनाग के फणों पर स्थितिवाले अपने चरण-कमल को हमारे उरःस्थलों में स्थापित करो, हमारी हृदय वासना को दूर करो ।

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवः श्रव आपन्नमृक्तम् ।
नामानि चिद् दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रण यन्त संदृष्टौ ।।

ऋग्वेद ६/१/४

अर्थ – (देवस्य) स्वज्योति से प्रकाशमान श्री परमात्मा कृष्ण के (पदं) पापों के नाशक, धर्म के रक्षक, कालियनाग के फण पर स्थित लक्ष्मी के निवासस्थान चरण-कमल के (नमसा) नमस्कार द्वारा (व्यन्तः) देखते हुए (श्रवस्यवः) भगवद्‌यश के कीर्तन से अपने यश की प्राप्ति के लिए कामना करते हुए ब्रजवासी आपके (अमृक्तं) भक्त किसी से दूषित न किये हुए (श्रवः) यश को (आपन्) प्राप्त होते हैं। (ते) वे ब्रजवासी भक्तजन (भद्रायां संदृष्टौ) तुझ श्रीकृष्ण के कल्याणमय सुन्दर चरणारविन्द के दर्शन में (रणयन्त) ब्रह्मानन्द में रमण करते हैं। अर्थात् भगवान के चरणों की सुन्दरता को देखकर आनन्द का अनुभव करते हैं। (यज्ञियानि नामानि) आपके चरण-कमलों को प्रत्यक्ष रूप से अपने हृदय में धारण करने के लिए पूज्य श्रीकृष्ण, गोविन्द, हरे, मुरारे इत्यादि पवित्र अनेक नामों को (दधिरे) धारण करते हैं। ध्यान और कीर्तन करते हैं।

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया
बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यती–
रधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः ।।

श्रीमद्‌भागवत १०/३१/८

अर्थ – हे कमलनेत्र ! हे वीर-शिरोमणि श्रीकृष्ण ! बहुत मीठी, मन को आनन्द देनेवाली, बुद्धिमानों के मन में रमण करने वाली, मधुर पदों वाली, वेणु द्वारा मुखोच्चारित वाणी से आज्ञानुसार चलने वाली, मोहित हुई इन हम दासियों को अधरामृत से तृप्त कर हमें जीवन-दान दो। क्योंकि अमृत-रस से मृत जीव भी जीवन प्राप्त कर लेता है।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
इन्द्राय पातवे सुतः ।।

ऋग्वेद ९/१/१ यजुर्वेद २६-२५

अर्थ – (सोम) शान्तिदायी परमात्मन् श्रीकृष्ण ! (स्वादिष्ठया) षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद--इन सात स्वरों में से पंचम स्वरयुक्त होने से परम स्वादु, (मदिष्ठया) स्वादु होने से बहुत आनन्द देनेवाली (धारया) अधरामृत से उच्चारण की हुई शब्दधारा से (सुतः) जगत के उत्पन्न करने वाले (इन्द्राय) आप ब्रजवासी जीवात्माओं को (पातुं) कानों द्वारा पान करने के लिए (पवस्व) अधरसुधामय शब्दों को (क्षर) सिंचन कर। अतः अपने अधरामृत वचनों से ब्रजवासियों के हृदय को पवित्र कर।

विशेष के लिए देखिए–

ऋग्वेद ९, २, ७; सा. उ. ७, १, ७

तव कथाऽमृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः।।

श्रीमद्भागवत १०/३१/९

अर्थ – आध्यान्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—इन तीन प्रकार के दुःख से दुःखी पुरुषों के जीवनरूप और सब पापों के नाश करनेवाले, सुनने मात्र से मंगलरूप, कल्याणकारी, परमसुन्दर, मधुर और विस्तृत ज्ञानियों द्वारा स्तुति से कही हुई आपकी कथारूपी अमृत को पृथिवी में जो जन गाते हैं, वे आपकी कथा करने वाले पुरुष बहुत दानी और धन्य हैं। जो प्राणी अपने नेत्रों द्वारा आपका दर्शन करते हैं, क्या वे महाधन्यवाद के पात्र नहीं हैं ?

कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः।
अतस्त्वं दृश्यां अग्न एतान् पड्भिः पश्येऽद्भुतां अर्थ एवैः।।

ऋग्वेद ४/२।१२

अर्थ – (अग्ने) हे सर्वव्यापक ज्योतिस्वरूप श्रीकृष्ण ! (कवयः) निगमागम शास्त्र के जानने वाले कविजन मेधावी विद्वान् (अदब्धाः) वैदिक और लौकिक ज्ञान में किसी से भी पराजित न होने वाले,

भगवत्कथारसिक जन (आयोः दुर्यासु) मनुष्यमात्र के हृदय-मन्दिरों में (निधारयन्तः) भगवत्कथा के तत्त्व को निश्चयरूप से धारण करते हुए (कवि) क्रान्तदर्शी आदिकवि परमात्मा की (शशासुः) स्तुति करते हैं। अतः इस कारण से सर्वदर्शी गोविन्द आप (अयः) सबके स्वामी, परमेश्वर (दृश्यान्) देखने योग्य (अद्भुतान्) आश्चर्ययुक्त अर्थात् आपके वियोग से अद्भुत रूपधारी (एतान्) इन अपने भक्त ब्रजवासिनों को (एवैः षड्भिः) सर्वत्र गमनशील अपने तेजों से (पश्य) देख । अर्थात् आपके वियोग के कारण इन ब्रजवासियों की दशा आपके बिना कैसी हो रही है ?

विशेष के लिए देखिए--

ऋग्वेद १/३०/५ अथर्व. २०/४५/२

प्रणत कामदं पद्मजार्चितं
धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।
चरणपङ्कजं शंतमं च ते
रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ।।

श्रीमद्भागवत १०/३१/१३

अर्थ – सारे जगत में रमणशील हे भगवान कृष्ण ! हे आध्यात्मिकादि त्रिविध पीड़ानाशक ! शरणागत भक्तों को कामना देनेवाले और ब्रह्माजी से पूजित, पृथिवी के भूषण, आपत्तिकाल में ध्यान करने योग्य और अत्यन्त सुखरूप अपने चरणकमल को हम गोपीजनों के उरःस्थल पर धारण कर ।

पदे इव निहिते दस्मे अन्तस्तयोरन्यद् गुह्यमाविरन्यत् ।
सध्रीचीना पथ्या सा विषूची महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।।

ऋग्वेद ३/५५/१५

अर्थ -- हे आधिव्याधिनाशक श्रीकृष्ण ! (दस्मे) आपके अति कोमल और सुन्दर (पदे) दोनों चरण (अन्तः) हमारे अन्तकरण में (निहिते) स्थित हैं । (तयोः) उन दोनों चरणों में से (अन्यत्) एक चरण (गुह्यम्) सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक होने से गुप्त है । (अन्यत्) दूसरा चरण (आविः) ब्रह्मादि देवों से पूजित और शान्तिप्रद प्रकट रूप से हमारे

उर:स्थलों पर प्रकट रूप में है। (सा पथ्या) दोनों चरणों की यह पद्धति मन में शान्ति को देने से हितकारिणी है। अत: (सध्रीचीना) एक होती हुई भी (विषूची) भिन्न-भिन्न मार्गवाली (देवानाम्) नजर आती है। दिव्य ज्योति से प्रकाशमान श्रीमान् परमात्मा का (एक महत्) एक मुख्य महत्त्व (असुरत्वम्) जीवन प्रदानात्मक है।

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

श्रीमद्भागवत १०/३१/१९

अर्थ–गोपियाँ प्रार्थना करती हैं—हे प्रिय श्रीकृष्ण! आपके अति कोमल चरणकमल को जब हम गोपियाँ कठोर उर:स्थलों में आनन्द लेने के लिए डरी हुई अर्थात् डरकर शनै:-शनै: धारण करती हैं, क्योंकि आपके चरणकमल को पीड़ा न हो। इसी कारण आप वन को चले जाते हैं, आप हमारे पास नहीं ठहरते। वन में आपका वह चरणकमल सूक्ष्म पत्थर, कुश, काश, काँटे आदि से पीड़ित न होता होगा, यही हमारा प्रश्न है। अर्थात् अवश्य ही पीड़ित होता होगा। आपकी दीर्घायु को चाहने वाली हमारी बुद्धि मोह को प्राप्त होती है। अर्थात् मोह के कारण आपके दु:ख का अनुभव करती है।

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः॥

अथर्ववेद ४/२०/५

अर्थ–(सहस्रचक्षो) हे सहस्राक्ष परमात्मन्! श्रीकृष्ण! (रूपाणि) अपने मनोहर रूप को (आविष्कृणुष्व) हमारे देखने के लिए प्रकट करें अर्थात् स्वयमेव प्रत्यक्ष हो जाएँ। (आत्मानं) अपने कृष्णस्वरूप को (मा अपगूहथा:) हमसे एकान्त में अपने आपको गुप्त न करें (अथो) तथा (त्वं) कृष्णस्वरूपधारी आप (किमीदिन:) अब क्या करना चाहिए अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ़ हम दीनों को (प्रतिपश्या:) प्रकटरूप होकर देखें।

१८८. रास में कृष्ण अनेक रूपों में

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥

श्रीमद्भागवत १०/३३/३

अर्थ – मण्डलाकार खड़ी गोपियों में दो-दो के बीच योगेश्वर श्रीकृष्ण अपने योगसामर्थ्य से अनेक रूप बनकर प्रविष्ट हुए और दोनों ओर गोपियों के कण्ठ में आलिंगन किया। इस प्रकार गोपियों के मंडल से शोभित रासोत्सव शुरू हुआ ।

पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा।
ऋतस्य सद्म वि चरामि विद्वान् महद् देवानामसुरत्वमेकम्॥

ऋग्वेद ३/५५/१४ अ. कां. १८

अर्थ—भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति पदसंचार में श्रेष्ठ नृत्यकुशल विविध प्रकार के शरीरों को वस्त्रों की तरह परिधान करती है। (एक-एक गोपी के साथ नाचने की सुविधा के लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अनेक रूप धारण किये। उस समय श्रीकृष्ण युवतिवर्ग के मध्य में हैं। दायें, बाएँ और पुरोभाग में गोपिका-वर्ग के अपांगवीक्षण रूप तीरों को लक्ष्य बनाये जाने पर भी सर्वोत्कृष्ट ब्रजेश्वरी राधा अपने नेत्रों से पान करती हुई, त्रिलोकीपति प्रभु का सादर अवलोकन करती हुई सहर्ष स्थित है। मैं साधक-सत्य परब्रह्म के प्रादुर्भाव के केन्द्र श्रीकृष्ण परमात्मा को जानता हुआ विविध रूप से पूजन करता हूँ। प्रवलता, शत्रुओं को पराजित करने का सामर्थ्य अद्वितीय, असाधारण एवं लोकोत्तर है। एक ही काल में समस्त गोपियों के साथ रासक्रीड़ा के उद्देश्य से नानारूपों को धारण करना तथा सुन्दरियों के कटाक्षों से विद्ध होने पर भी निर्विकार रहना भगवदैश्वर्य का ही चमत्कार है।

१८९. रास-मण्डल

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ।।

श्रीमद्भागवत १०/३३/६

अर्थ – फिर उस रास-मण्डल में प्रियतम श्रीकृष्ण के साथ रही हुई गोपियों के कंकण, नूपुर तथा किंकणियों का महान् झंकार हो उठा ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

(ईशावास्योपनिषद्-मंगलाचरण)

अर्थ – ॐ वह (परब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म) भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है। तथा (प्रलयकाल में) पूर्ण (कार्यब्रह्म) का पूर्णत्व होकर (अपने में लीन करके) पूर्ण परब्रह्म ही बच रहता है ।

१९०. अक्रूर-आगमन और सन्देश

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः ।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम् ।।

× × × ×

इत्थं सूनृतया वाचा नन्देन सुसभाजित ।
अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/३८/१–४३

अर्थ – महाबुद्धिमान् अक्रूर ने भी (जिस रात को कंस ने गोकुल जाने की आज्ञा की) उस रात को मथुरा में रहकर प्रातःकाल रथ में बैठकर नन्द के गोकुल की ओर प्रयाण किया ।

देवानां दूतः पुरुध प्रसूतोऽनागान् नो वोचतु सर्वताता ।
शृणोतु नः पृथिवी द्यौरुतापः सूर्यो नक्षत्रेरुर्वन्तरिक्षम् ।।

शृण्वन्तु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्तः।
आदित्यैर्नो अदितिः शृणोतु यच्छन्तु नो मरुतः शर्म भद्रम् ।।
ऋग्वेद ३/५४/१९, २०

अर्थ – मैं कंस-वध की कामना वाले आदि देवों के द्वारा श्रीकृष्ण को लाने के लिए भेजा गया हूँ। विश्वपिता श्रीकृष्ण निर्दोषों को अपने वचनों से आश्वस्त करें। यह प्रार्थना-वचन पृथ्वी, आकाश, जल, नक्षत्रों सहित सूर्य एवं अन्तरिक्ष भी सुनें।

मनोरथों को पूर्ण करने वाले पर्वत, जो नित्य कल्याणप्रद हैं, पृथ्वी के द्वारा पुष्टि को प्राप्त होते हैं, सुनें। आदित्यों के साथ अदिति भी सुनें। मरुद्गण मुझे अनिष्ट का निवारण करने वाले कल्याण प्रदान करें।

१९१. गोपी-विलाप

गोप्य ऊचुः– अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया
संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः।
तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं
विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ।।

× × × ×
× × × ×

शुक उवाचः– एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति ।।
श्रीमद्भागवत १०/३९/१९-३१

अर्थ – गोपियाँ बोलीं––हे विधाता, तू किसी के ऊपर दया नहीं रखता। प्राणियों को परस्पर मित्रता और स्नेह से जोड़कर, मित्रता और स्नेह का वे उपयोग करे उसके पहले ही, बिना कारण तू उनका वियोग करता है। तेरी यह क्रीड़ा बाल-चेष्टा जैसी है।

इस प्रकार कहती और श्रीकृष्ण में आसक्त मनवाली ब्रजांगनाएँ अत्यन्त विरहातुर होकर, लज्जा का त्यागकर 'हे गोविंद, हे दामोदर, हे माधव' इस प्रकार पुकारती हुई जोर से रोने लगीं ।

वि मे पुरुत्रा पत्तयन्ति कामाः शम्यच्छा दीद्ये पूर्व्याणि ।
समिद्धे अग्नावृतमिद् वदेम महद् देवानामसुरत्वमेकम् ।।

ऋग्वेद ३/५५/३ मं. भा. अक्रूर ६–७

अर्थ – भोग-विलास की साधन-सामग्री शोक के कारण मूर्छा उत्पन्न करती हुई जमीन पर गिर पड़ती हैं। भूतकाल के सुख श्रीकृष्ण के क्रीड़ावेशरूप ज्वर से अदृश्य हो जाते हैं। हम सब गोपियाँ प्रदीप्त अग्नि की साक्षी में सत्य कहती हैं कि यह जो हमें भगवान का वियोग हुआ है वह देवों की भयंकर दानवता ही है।

१९२. अक्रूर द्वारा यमुना में श्रीकृष्ण-दर्शन

निमज्ज्य तस्मिन् सलिले जपन् ब्रह्म सनातनम् ।
तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ ।।
तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः ।
तर्हि स्वित् स्यन्दने न स्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः ।।
तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः ।
न्यमज्जद् दर्शनं यन्मे मृषा किं सलिले तयोः ।।
भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत् स्तूयमानमहीश्वरम् ।
सिद्धचारणगन्धर्वैरसुरैर्नत कन्धरैः ।।
विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया युतः ।
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः ।।
गिरा गद्‌गदयास्तौषीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्वतः ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलिपुटः शनैः

श्रीमद्भागवत १०/३९/४१–४४, ५६, ५७

अर्थ – यमुना के जल में स्नान कर सनातन ब्रह्म वेदमन्त्रों को जपते हुए अक्रूर को वहाँ जल में भी श्रीकृष्ण-बलराम के दर्शन हुए। 'वसुदेव के वे दोनों पुत्र तो रथ में बैठे हैं। यहाँ कैसे ? क्या वे रथ में नहीं हैं ?' यह सोचकर वे पानी से बाहर निकलकर देखने लगे। वे दोनों पूर्ववत् रथ में ही बैठे हुए थे। मैंने उन्हें पानी में देखा, यह क्या भ्रम था ?' यह सोचकर अक्रूरजी ने पुन: जल में डुबकी लगाई। वहाँ भी उन्हें सिद्धों, चारणों, गंधर्वों तथा असुरों द्वारा नत मस्तक होकर स्तुति कराते भगवान के दर्शन हुए। भगवान के दर्शन कर अक्रूरजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। हृदय में भक्ति उमड़ पड़ी और शरीर रोमांचित हो गया। उनका अन्त:करण तथा नेत्र भावविभोर बन गए। इसके बाद कुछ सावधान होकर अक्रूर ने दोनों हाथ जोड़कर भगवान को प्रणाम किया और गद्गद् होकर स्तुति की।

सप्त मे सप्त शाकिन्न एकमेका शता ददुः ।
यमुनायामधि श्रुतमुद् राधो गव्यं मृजे नि राधो अश्व्यं मृजे ।।

मं. भा. अ. २७ ऋग्वेद ५/५२/१७

अर्थ – श्रीकृष्ण तथा बलराम को मथुरा ले जाते समय अक्रूर को एक सरोवर में स्नान करते-करते भगवान के दर्शन हुए, इसी का वर्णन यहाँ किया है।

उनचास संख्या के मरुत (प्राणायाम के अधिष्ठाता) देवों ने मुझे सैकड़ों ऐश्वर्य दिये हैं; क्योंकि सूर्य की किरणों में सर्वोपरि रूप में रहे हुए तेज का सूर्योपस्थान के समय मुझे दर्शन हुआ है। वही रथ में भी श्रीकृष्ण के रूप में स्थित है, जिसको मैं देख रहा हूँ।

१९३. श्रीकृष्ण मथुरा में

[रजक का नाश, मालाकार पर कृपा, कुवलयापीड और मल्ल का संहार]

(१) रजक का नाश

एवं विकत्थमानस्य कुपितो देवकीसुतः ।
रजकस्य कराग्रेण शिर कायादपातयत् ।।

श्रीमद्भागवत १०/४१/३७

अर्थ – कंस का सेवक रजक जब डींग हाँकने लगा तो गुस्से में आकर श्रीकृष्ण ने ऐंसी जोर की थप्पड़ लगाई कि उसके शरीर से मस्तक नीचे गिर पड़ा ।

(२) मालाकार पर कृपा

सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि ।
तद्भक्तेषु च सौहार्द्रं भूतेषु च दयां पराम् ॥
श्रीमद्भागवत १०/४१/५१

अर्थ – सुदामा माली पर भगवान प्रसन्न हुए तब उसने समग्रात्मा भगवान में सुचल भक्ति, भगवान के भक्तों पर प्रेम तथा प्राणिमात्र पर दया की याचना की ।

(३) कुवलयापीड का नाश

पतितस्य पदाऽऽक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया ।
दन्तमुत्पाट्य तेनेभं हस्तिपांश्चाहनद्धरिः ॥
श्रीमद्भागवत १०/४३/१४

अर्थ– श्रीकृष्ण ने कुवलयापीड हाथी को नीचे गिरा कर सिंह की तरह लीला मात्र से पैरों से दबा दिया, उसका एक दाँत उखाड़ दिया और उसी दाँत से हाथी तथा महावत को मार डाला ।

(४) मल्ल का संहार

भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजीवितम् ।
विस्रस्ता कल्प केशस्रगिन्द्रध्वज इवापतत् ॥
श्रीमद्भागवत २०/४४/२३

अर्थ – श्रीकृष्ण ने चाणूर मल्ल को हाथों से पकड़कर खूब घुमाया और फिर जमीन पर पछाड़ा । उसके आभूषण, बाल और माला छिन्न-भिन्न हो गई तथा वह इन्द्रध्वज की तरह जमीन पर गिर पड़ा ।

युवं वस्त्राणि पीवसावसाथे युवो रच्छिद्रामंतवोह सर्गाः ।
अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे ।। म.का.१।।

मन्त्र भागवत १

अर्थ – हे कृष्ण और बलराम ! आप लोग वस्त्रों से बलपूर्वक अपने शरीर का आच्छादन करें। दिव्य अंग-लेप आदि से आपकी शोभा बढ़ाने वाले मालाकार और कुब्जा आदि पूर्णता को प्राप्त हो गये, जब कि सत्य और पूर्णता से रहित कुवलयापीड तथा चाणूर वगैरह को आपने समाप्त कर दिया । इस प्रकार आपने यादव-कुल के अनुरूप आचरण किया है ।

१९४. कंस वध

प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं
निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमञ्चात् ।
तस्योपरिष्टात् स्वयमब्जनाभः
पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः ।।
तं सम्परेतं विचकर्ष भूमौ
हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः ।।
हाहेति शब्दः सुमहांस्तदाभू-
दुदीरितः सर्वजनैर्नरेन्द्र। ।

श्रीमद्भागवत १०/४४/३७, ३८

अर्थ – श्रीकृष्ण ने कंस को बालों से पकड़ा। उस समय उसका मुकुट नीचे गिर गया। भगवान ने उसको सिंहासन से गिरा दिया और अखाड़े में जोर से पछाड़ा। इसके बाद भगवान ने उसके ऊपर कूदकर उसको दबोच लिया। जिस प्रकार सिंह हाथी को घसीटता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण मृत कंस को दुनिया के देखते हुए जमीन पर घसीटने लगे। उस समय सब मनुष्य हाहाकार करने लगे ।

इन्द्रो विश्वैर्वीर्यैः पत्यमान उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।
पुरंदरो वृत्रहा धृष्णुषेणः संगृभ्या न आ भरा भूरि पश्वः ॥

मन्त्र भागवत २ ऋग्वेद ३/५४/१५

अर्थ – भगवान श्रीकृष्ण अपने समग्र बल से कंस के ऊपर गिरे तो आकाश और पृथ्वी उस ध्वनि से भर गई । उन्होंने अपने भीतर रहे हुए त्रैलोक्य के भार को ही मानो कंस के ऊपर फैंक दिया । इसी प्रकार हे इन्द्र ! तुम शत्रुओं के विदारक एवं धर्मनाशक के काल हो । तुम्हारी सेना विश्व का संरक्षण करने की क्षमता वाली है । अतः इन पशुओं जैसे असुरों पर आक्रमण करो और हमारा सर्व रीति से पालन करो ।

१९५. प्रजा द्वारा हर्षनाद व स्तुति

नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः ।
पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः ॥

श्रीमद्भागवत १०/४४/४२

अर्थ – श्रीकृण ने कंस का वध किया उस समय आकाश में दुन्दुभि-नगाड़े बजने लगे । भगवान की विभूति ब्रह्मा, शंकर आदि देव प्रसन्न होकर भगवान श्रीकृष्ण के ऊपर पुष्पवृष्टि करने लगे, उनकी स्तुति करने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ।

यशस्करं बलवंतं प्रभुत्वं तमेवराजाधिपतिर्बभूव ।
संकीर्णनागाश्वपतिर्नराणां सुमंगल्यं सततं दीर्घमायुः ॥

मन्त्र भागवत म. कां. ३

अर्थ – (इन्द्रादि देवगण कृष्ण की स्तुति करते हैं)––श्रीकृष्ण राजा-महाराजाओं के अधिपति, यशस्वी व प्रभुता सम्पन्न हैं । असंख्य अश्वों तथा हाथियों के स्वामी बनकर उन्होंने प्रजा को निरन्तर मांगल्यप्रद जीवन दिया है ।

१९६. जीवन की धन्यता

दानव्रततपोहोम जपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ।।

श्रीमद्भागवत १०/४७/२४

अर्थ – दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, संयम एवं अन्य अनेक प्रकार के कल्याण के साधनों से ही श्रीकृष्ण की भक्ति सिद्ध हो सकती है ।

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः ।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः ।:

ऋग्वेद ५/४२/८

अर्थ -- बृहस्पति से सुरक्षित मनुष्य सभी तरह के रोगादिकों से रहित अहिंसित, ऐश्वर्यवान् और उत्तम पुत्र-पौत्रादिकों से युक्त होते हैं । जो मनुष्य घोड़ों का, गायों का और वस्त्रों का दान करते हैं उन्हें सौभाग्य और ऐश्वर्य मिलता है । भगवद्भक्ति प्राप्त होती है ।

सदस्य मदे सद्वस्य पीताविन्द्रः सदस्य सख्ये चकार ।
रणा वा ये निषदि सत् ते अस्य पुरा विविद्रे सदु नूतनासः ।।

ऋग्वेद ६/२७/२

अर्थ – सर्वेश्वर्यसम्पन्न परमात्मा इस दैवी मनुष्य की प्रसन्नता के लिए सत्स्वरूप अर्थात् सद्भावरूप है । इस दैवी मनुष्य की परमात्मा के रसात्मक स्वरूप को पान करने की अवस्था सत्स्वरूप है । इस दैवी जीव के नर-नारायणात्मक सखाभाव में भी, सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है । संसार-संग्राम में रहने वाले अथवा संसार-रूपी सभा में वास करने वाले 'ॐ तत् सद् ब्रह्म' परमात्मा के इस नाम की स्तुति करनेवाले दैवी जीवों ने, आदिकाल में ही यज्ञ, दान, तप करने योग्य शुद्ध देश में इस सत् शब्द को पाया । दैवी जीवों को देखकर अन्य दूसरे राजसी और तामसी जीव भी सत् शब्द का ही व्यवहार करते हैं जिससे उनकी बुद्धि भी दैवी कर्मों की ओर झुकती है ।

१९७. आत्मस्वरूप

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः ।
सुषुप्ति स्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ।।

श्रीमद्भागवत १०/४७/३१

अर्थ – (भगवान कहते हैं)––सर्वात्मा मैं शुद्ध हूँ, क्योंकि कोई भी गुण मेरा स्पर्श नहीं कर सकते । मैं गुणों से भिन्न तथा ज्ञानस्वरूप हूँ तथापि माया के कार्यरूप मन की वृत्ति से सुषुप्ति में प्राज्ञरूप, स्वप्नावस्था में तैजस्रूप और जाग्रदवस्था में विश्वरूप लगता हूँ ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।

श्वेताश्वतर ६/१३

अर्थ – जो नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन और अकेला ही बहुतों को भोग प्रदान करता है, सांख्ययोग द्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण आत्मस्वरूप देव को जानकर (पुरुष) समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

दशमस्कन्धे उत्तरार्धम्

१९८. ईश्वर के जन्म और कर्म दिव्य तथा अनेक हैं

जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः ।।
न शक्यन्तेऽनु संख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि ।।

श्रीमद्भागवत १०/५१/३७

अर्थ – (श्री भगवान बोले)––हे राजा मुचुकुन्द, मेरे जन्म, कर्म तथा नाम हजारों हैं । वे अनन्त हैं, अतः मुझसे भी उनकी गिनती नहीं हो सकती ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।

श्रीमद्भगवद्गीता ४/९

अर्थ -- हे अर्जुन, जो प्राणी मेरे अलौकिक जन्म और कर्म को यथार्थ रूप से जानता है वह अपने शरीर को छोड़कर (अर्थात् मृत्यु के अनन्तर) पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता, अपितु मुझ सच्चिदानंद स्वरूप को प्राप्त होता है ।

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।
धास्यूर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ।।

अथर्ववेद ५/१/२

अर्थ – जो दिव्य देह और दिव्य कर्मोंवाला परमात्मा अनादि होता हुआ भी सांसारिक धर्मों को प्राप्त होता है, संसार में प्रकट होता है, सांसारिक धर्म ग्रहण के अनन्तर बहुत से देहों को धारण करता है । अर्थात् वह परमात्मा बहुत-सी शारीरिक शक्तियाँ धारण करता है । सबका आदि अर्थात् पुरातन, जगत को धारण करने वाला यह परमात्मा दिव्य जन्म अर्थात् मूल स्थान को प्रविष्ट होता है, जो परमात्मा किसी से न कही हुई वेदवाणी को तीनों कालों में जानता है ।

१९९. ईश्वर के गुण-कर्म अनन्त हैं

क्वचिद् रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः ।
गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित् ।।

श्रीमद्भागवत १०/५१/३८

अर्थ – कोई पुरुष अनेक जन्म लेकर कदाचित् पृथ्वी के रजःकणों को गिन सकता है किन्तु मेरे गुण, कर्म, नाम तथा जन्म कभी नहीं गिन सकता ।

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्क भा यदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा ।।

यजुः. ५/१८

अर्थ – जिसने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक का निर्माण किया अथवा, जिसने पार्थिव परमाणु की परिगणना की, जो तीन प्रकार से पदक्रमण करनेवाला है, जो विस्तीर्ण गमनवाला है अथवा, जिसके गमन-पदक्रमण का महात्मा लोग गान करते हैं, जिसने देवों के निवास स्थान द्युलोक को स्थिर रखा है उन विष्णु के पराक्रमों का मैं प्रकर्षता से निरूपण करता हूँ ।

२०० (अ) विवाह योग्य युवान

का त्वां मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/५२/३८

अर्थ – हे मुकुन्द, हे पुरुषश्रेष्ठ ! कुल, शील, रूप, विद्या, वय, धन तथा प्रभाव से अद्वितीय और मनुष्यों के मन को आनंद देनेवाले आपको कुलवती, गुणवती और धैर्यवती कौन-सी कन्या पति के रूप में नहीं स्वीकारेगी ?

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ।।

ऋग्वेद ३/८/४

अर्थ – तरुण, उत्तम वस्त्रों से लिपटा हुआ यह आ गया है। वह उत्पन्न होते हुए बहुत उत्तम दिखलाई देता है। देवों के समान बनने की इच्छा करने वाले बुद्धिमान तथा उत्तम अध्ययनशील ज्ञानीजन मन से उसे उन्नत करते हैं। (ऐसे उत्तम पुरुष को अपनी कन्या देनी चाहिये) ।

(ब) विवाह योग्य स्त्री

तां बुद्धिलक्षणौदार्य रूपशीलगुणाश्रयाम् ।
कृष्णश्च सदृशीं भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे ।।

अर्थ – श्रीकृष्ण ने देखा कि रुक्मिणी बुद्धि, लक्षण, उदारता, सुन्दरता, शील तथा गुणों से युक्त है, तब उसको योग्य स्त्री मानकर उसके साथ लग्न करने की इच्छा की ।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणा हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ।।

अथर्व ६/१२२/५

अर्थ – ये पूज्य, शुद्ध और पवित्र स्त्रियाँ हैं । उन्हें ज्ञानियों के हाथों में अलग-अलग प्रदान करता हूँ । मैं जिस कामना से इस प्रकार तुम्हारा अभिषेक करता हूँ वह मेरी कामना सफल हो ।

पत्नी के गुण

अथर्व ३/२५/४

मृदु––स्त्री का स्वभाव शान्त होना चाहिए ।

निमन्यु––क्रोधी न हो ।

प्रियवादिनी––सदा मधुरवाणी बोलने वाली हो ।

अनुव्रता––पति के अनुकूल कार्य करने वाली हो ।

केवली––वह मात्र पति की ही बनकर रहे ।

वशा––पति के वश में रहने वाली हो ।

अथर्व. ३/२५/६

चितम् उपायसि––पति के चित्त अनुसार अपना चित्त रखने वाली हो ।

क्रतौ असः––पति के हरकार्य में मदद करनेवाली हो ।

अक्रतुः––पति के विरुद्ध कोई कार्य न करे ।

२०१. ईश्वरेच्छा से सुखदुःख की प्राप्ति

यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया ।
एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः ।।

श्रीमद्भागवत १०/५४/१२

अर्थ – जिस प्रकार लकड़ी की पुत्तलिका (खिलौना) उसको नचानेवाले मदारी की इच्छा के अनुसार नाचती है उसी प्रकार ईश्वर के अधीन रहने वाला मनुष्य ईश्वरेच्छा के अनुसार ही सुख-दुःख प्राप्त करता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।

गीता १८/६१

अर्थ – हे अर्जुन ! सर्वलोकनियन्ता परमात्मा यन्त्र पर चढ़े हुए अर्थात् किसी यन्त्र के आधार पर रहने वाले प्राणी-अप्राणी सब पदार्थों को अपनी शक्ति से अपने-अपने किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मों के फल के अनुसार संसार के जन्म-मरण के चक्र में घुमाता हुआ सब पदार्थों के हृदयदेश में ठहरता है अर्थात् परमात्मा ही अपनी शक्ति द्वारा सबको अपने-अपने कर्मों का फल देता है।

विशं विशं मघवा पर्थशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा ।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ।।

ऋग्वेद १०/४३/६

अर्थ – भक्तजनों के कामनामय फलों की वर्षा करने वाला अर्थात् प्राणी और प्राणहीन पदार्थों पर स्वकृत शुभाशुभ कर्मों के फल की वर्षा करनेवाला, सब से पूजनीय परमात्मा, प्रत्येक प्राणी और अप्राणी पदार्थ के मध्य में शयन अर्थात् निवास करता है। सब प्राणियों के कर्म देखता है, सबकी स्तुति निन्दात्मक वाणी सुनता है और सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा जिस मनुष्य के ही सायं, मध्यान्ह और प्रातःकाल के यज्ञात्मक कर्मों में रमण करता है अर्थात् परमात्मा मनुष्यों के त्रैकालिक कर्मों को देखता है। वह कर्मकर्ता मुमुक्षुजन अपने अति शुभ कर्मों से काम-क्रोध-लोभात्मक शत्रुओं के प्रहार को सहन करता है अर्थात् काम-क्रोध-लोभादि के प्रभाव को दबा देता है।

२०२. आनन्दमय फलात्मा कृष्ण

त्वं वै समस्त पुरुषार्थमयः फलात्मा
यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम् ।
तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः
पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखितोर्न ।।

श्रीमद्भागवत १०/६०/३८

अर्थ – आप ही समस्त पुरुषार्थमय एवं परमानन्द-स्वरूप हैं, यह समझकर आपको प्राप्त करने की इच्छा से उत्तम बुद्धि वाले जो पुरुष सम्पूर्ण व्यवहार का त्याग कर देते हैं, उनका ही आपके साथ सेव्य-सेवक भाव सम्बन्ध योग्य है, किन्तु परस्पर अनुरक्त होने के कारण सुखी अथवा दुःखी होने वाले स्त्री-पुरुषों जैसा सम्बन्ध उचित नहीं है ।

मर्मृजानासः आयवो वृथा समुद्रमिन्दवः ।
अग्मन्नृतस्य योनिमा ।।

ऋग्वेद ९/६४/१७

अर्थ – सुखदुःखादि द्वन्द्वों से रहित हो जाने पर अपने आत्मा को आत्मज्ञान से अत्यन्त शुद्ध करते हुए, अध्यात्म विचार में गतिशील योगसमाधि द्वारा चन्द्र समान शीतल और प्रकाशमान तथा संसार के सब विषयों को मिथ्या जानते हुए युक्त योगीजन चराचर प्रपंच के मूल कारण अर्थात् बीजरूप सब प्रपंच के मुद्रण-कारण या सब प्रपंच के संग्राहक परमात्मा को प्राप्त होते हैं ।

२०३. ब्रह्मदर्शन

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशं
सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम् ।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोध हेतुं
यत्तद् ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/६३/२५

एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रानुपजीवन्ति इति श्रुतेः ।

अर्थ – अनन्त शक्तिवाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ, क्योंकि आप ब्रह्मादि महान् देवों के भी ईश्वर, सर्व के आत्मा, शुद्ध चैतन्यघन तथा जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण हैं। वेद जिसका प्रकाशन करते हैं वह अति शांत ब्रह्म आप ही हैं।

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे ।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः ॥
यजु. २३/६३

अर्थ – हे जीवात्मन् ! यह प्रसिद्ध है कि वह परमात्मा सब का आदि है, सम्यक्तया होनेवाला अर्थात् अविनाशी ब्रह्म है। वही अपने आप होने वाला अर्थात् कारण से रहित, प्रति देह में प्रवेश करके वासरूप से प्रत्यगात्मस्वरूप अर्थात् अध्यात्म-स्वरूप कहा गया है। बड़े विस्तृत संसाररूपी समुद्र में सब पदार्थों के भीतर, प्रत्येक ऋतु के अर्थात् समय के अनुसार, भूतों की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाले विसर्ग को धारण करता है। जिस कर्म से सूर्य आदि प्रजापालक उत्पन्न हुए अर्थात् देवों के उद्देश्य से किया जाने वाला कार्य कर्म संज्ञावाला कहा गया है।

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि ॥
अथर्ववेद १०/७/१२

अर्थ – जिस परमात्मा के विराट् स्वरूप में भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, वायु स्थित है उसे ब्रह्म कह।

२०४. माया और उसको पार करने का उपाय

कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो
द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।
तत्संघातो बीजरोहप्रवाह-
स्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥
श्रीमदभागवत १०/६३/२६

अर्थ – (सर्व को क्षुब्ध करने वाला) काल, (सब का कारण) कर्म, दैव, कर्म का संस्कार रूप स्वभाव, जीव, शब्द-स्पर्श आदि सूक्ष्म भूतरूप द्रव्य, शरीर, प्राण, सूत्रात्मा, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ, पंच महाभूत, उन सबका समुदाय लिंगदेह और उस देह से कर्म तथा कर्मों से पुनः देह इस प्रकार चलने वाला प्रवाह यह सब आपकी माया ही है। मैं उस माया का निषेध करते हुए अवधिरूप से रहने वाले आपकी शरण में आया हूँ ।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ।।

ऋग्वेद १०/६३/१०

अर्थ – हम आकाशरूपवाली मंगलमयी नौका पर आरूढ हों और देवत्व को प्राप्त करें। इस नाव पर चढने से अरक्षा का कोई डर नहीं रहता। इस पर चढने से अतिशय आनन्द की प्राप्ति होती है। यह अक्षय नौका सुविस्तीर्ण हो। यह श्रेष्ठ कर्मवाली और सुदृढ है। यह पापरहित तथा कभी भी नाश को प्राप्त न होने वाली है।

२०५. अवतार-कारण

नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नै–
देवान् साधूँल्लोकसेतून् विभर्षि ।
हंस्युन्मार्गान् हिंसया वर्तमानान्
जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ।।

श्रीमद्भागवत १०/६३/२७

अर्थ – (आप सब उपाधियों से मुक्त हैं तथापि) लीला मात्र के कारण स्वीकृत मत्स्यादि अनेक अवतारों से आप देवों का रक्षण करते हैं, देवों के रक्षणार्थ लोक-मर्यादारूप वर्णाश्रम धर्मों का रक्षण करते हैं, उसके रक्षणार्थ सत्पुरुषों का रक्षण करते हैं और उनके रक्षणार्थ हिंसक दैत्य आदि का नाश करते हैं। इसी प्रकार आपका यह कृष्णावतार भी पृथ्वी का भार उतारने के लिए है।

अनुव्रताय रन्धयन्नपव्रता नाभूमिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः ।
वृद्धस्य चिद् वर्धतो द्यामिनक्षतः स्तवानो वम्रो विजघान संदिहः ।।

ऋग्वेद १/५१/९

अर्थ – यह इन्द्र मातृभूमि के भक्तों द्वारा मातृभूमि के विरोधकों का नाश करवाता है । अनुकूल कर्म करने वालों के हित के लिए व्रतहीन कुकर्मियों का नाश करता है । इस इन्द्र के गुणों को अपने अन्दर धारण करके मनुष्य अपने शत्रुओं का समूल नाश कर सकता है ।

ऋतं पिपर्सि अनृतं नि पाति ।

अथर्व. ९/१०/२३

अर्थ – वही सत्य को पूर्ण करता है और असत्य का नाश करता है ।

२०६. अनन्याश्रय से ही रक्षा

तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन
शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।
तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं
नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः ।।

श्रीमद्भागवत १०/६३/२८

अर्थ – आपके तेजरूप महाभयंकर एवं शान्त होने पर भी उग्र इस असह्य शीतज्वर से मैं संतप्त हो रहा हूँ । आशापाश से बंधे हुए प्राणी जब तक आपके चरणमूल का सेवन नहीं करते तब तक ही उन्हें संताप होता है ।

योगक्षेमं व आदायाऽहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम् ।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव ।।

ऋग्वेद १०/१६६/५

अर्थ – हे जीवात्मन् ! हे योगीजनो ! मुझ परमात्मा के पाँव के नीचे अर्थात् क्षुद्र जीवन में रहते हुए तुम वृष्टि के जल से निचले प्रदेश में रहते हुए मेंढकों के समान ऊँचे स्वर से मुझे बुलाओ अर्थात् स्पष्ट शब्दों

से मेरी स्तुति करो। फिर मैं परमात्मा निरन्तर समाहित चित्तवाले तुम योगियों की मूर्धस्थानीय अर्थात् सब से ऊँची पदवी चारों ओर करता हूँ। फिर मैं परमात्मा समाहित चित्तवाले तुम भक्तजनों को, अप्राप्त वस्तु जो मुक्ति उसकी प्राप्ति और उस मोक्ष की रक्षा अर्थात् पुनर्जन्म न होना, इन दोनों वस्तुओं को देकर सबसे श्रेष्ठ परमपद अर्थात् मुक्ति का देनेवाला होता हूँ।

२०७. बलराम-हलायुध

(गंगा-यमुना का आकर्षण : नहरों की रचना)

स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः ।।
निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ।
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ।।

श्रीमद्भागवत १०/६५/२३

अर्थ – उस समय समर्थ बलराम ने जलक्रीड़ा करने के लिए यमुना को बुलाया था, किन्तु 'यह तो मदिरा से मत्त बना हुआ है' यह मानकर, उनके वाक्य का अनादर कर, वह न आयी। तब बलदेव ने क्रुद्ध होकर हल के अग्रभाग से उसे (अपनी ओर) खींचा।

लाङ्‌गल्याग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम् ।
विचकर्ष स गंगायां प्रहरिष्यन्नमषत- ।।

श्रीमद्भागवत १०/६८/४१

अर्थ – हस्तिनापुर को उखाड़कर गंगा में फेंकने के लिए तत्पर बलराम क्रुद्ध होकर हल के अग्रभाग से उसे खींचने लगे।

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व ।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु ।।

ऋग्वेद ४/५७/१-४

अर्थ – हे क्षेत्र के स्वामी, भूमि के स्वामी देव ! जिस प्रकार एक गाय दूध देती है, उसी तरह तू मिठास से भरपूर और प्रवाह से युक्त जल प्रदान कर । अथवा, जिस प्रकार मीठे और पवित्र जल प्यासे मनुष्य को सुख देते हैं, उसी तरह सत्य कर्मों का पालन करने वाले देवगण हमें सुख दें ।

२०८. राज्य के प्रकार

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/८३/४१

अर्थ – हे सती द्रौपदी, हम चक्रवर्ती-पद को, इन्द्र के पद को, इन दोनों पदों के भोगों को, वैराज्य या परमेष्ठी पद को अथवा मोक्ष या श्रीहरि के चरणकमल की प्राप्तिरूप सालोक्यादि मुक्तियों को भी नहीं चाहतीं ।

ॐ स्वस्ति । साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यम् ।
आधिपत्यमयं सामन्तपर्यायोस्यात्

स्वस्ति––सब राष्ट्र-निवासियों का कल्याण हो ।

१. साम्राज्यम्––एक ही शासक द्वारा छोटे-छोटे राज्यों पर शासन ।

२. भौज्यम्––प्रान्तीय राज्य ।

३. स्वाराज्यम्––प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा प्रजा-शासित राज्य ।

४. वैराज्यम्––राज्य-शासन-रहित राज्य ।

५. पारमेष्ठ्यं राज्यम्––राजा-प्रमुख द्वारा शासित राज्य, राष्ट्रपति-शासन ।

६. महाराज्यम्––एक ही राजा के अधीन बड़ा राज्य ।

७. आधिपत्यमयं राज्यम्--राजा के अधिकारी वर्ग द्वारा शासित राज्य, जिसमें प्रधान-मण्डल की अनुमति आवश्यक।

८. सामन्तपर्यायी---छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य, जहाँ सामन्तों-ठाकुरों का शासन हो और जो अधिपति शासकों को कर देते हों।

९. सार्वभौम---जिस सम्राट का भूमि के बड़े भाग पर शासन हो।

१०. एकराट्--समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का एक ही शासन।

प्राचीन काल में इतने प्रकार के राज्य थे। उनमें स्वराज्य-शासन को सर्वोत्तम माना गया है।

२०९. ईश्वर-लक्षण

तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै--
रव्याहतानुभवमीश्वरमद्वितीयम्।
प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो
मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः॥

श्रीमद्भागवत १०/८४[३३

अर्थ – जिस प्रकार सामान्य मनुष्य किसी से न ढ़ँके हुए सूर्य को बादल, हिम तथा राहु से ढँका हुआ मानता है उसी प्रकार अद्वितीय ईश्वर श्रीकृष्ण को रागादि क्लेशों, कर्मों, कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःखों, गुणों के प्रवाह एवं अपने ही कार्य-प्राण इत्यादि से ढँका हुआ मानता है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः

२१०. 'उपनिषद्' की व्याख्या

सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता।
श्रद्धया धारयेद् यस्तां क्षेमं गच्छेदकिंचनः॥

श्रीमद्भागत्रत १०/८७/३

अर्थ – ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों रूपी ब्रह्मवाणी को पूर्वजों के भी पूर्वज---वृद्धों ने धारण किया है। अतः जो मनुष्य श्रद्धा से

उस श्रुति के निर्णय को ग्रहण करता है, वह देहादि उपाधि को छोड़कर परमपद को प्राप्त करता है।

उप--सामिप्ये, नि--सर्वांशतया, सद् विशरणगत्यवसानेषु।
शब्दार्थम्--सर्वांशेन उद्धृत्य अवसादनं मोक्षं प्रापयतीत्युपनिषद्।

अर्थ – 'उपनिषद्' शब्द में 'उप' और 'नि'––ये दो उपसर्ग तथा 'सद्' धातु––इस प्रकार तीन शब्द हैं। 'उप' सामिप्य का अर्थ सूचित करता है, 'नि' का अर्थ है सर्वांशेन-सर्वतोभावेन और 'सद्' में विशरण, गति एवं अवसान का अर्थ है। अर्थात् जो सर्वप्रकार से उद्धार कर मोक्ष की प्राप्ति कराता है वही 'उपनिषद्' है।

२११. श्रुतिगीता––ईश्वर परा और अपरा प्रकृति से पर है

जय जय जह्यजामजित दोष गृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्ध समस्त भगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥

श्रीमद्भागवत १०/८७/१४

अर्थ – किसी से भी न जीते हुए हे परमेश्वर ! आपका जय-जयकार हो। आप स्थावर-जंगम शरीरों वाले जीवों की अविद्या का नाश करें, जिस अविद्या ने (जीवों के) आनन्दादि गुण ढँकने के लिए (सत्त्वादि) गुण ग्रहण किये हैं। (यह अविद्या लोगों को ठगने के लिए) सत्त्वादि गुण ग्रहण करती है, अतः उसका नाश करना चाहिए। यह अविद्या आपको नहीं ठग सकती, क्योंकि) आपने तो स्व-स्वरूप से ही समग्र ऐश्वर्य प्राप्त किया है––माया को वश में किया है। (जीव ज्ञान-वैराग्य आदि से अविद्या का नाश नहीं कर सकते, क्योंकि) हे सर्व शक्तियों को जगाने वाले ! आप ही जीवों के अन्तर्यामी और सब शक्तियों के प्रकाशक हैं। अतः जीव ज्ञानादि प्राप्त करने में स्वतन्त्र नहीं है। कभी सृष्टि

आदि के समय आप माया के साथ क्रीड़ा करते हुए भी अविनाशी ऐश्वर्यता और केवल सत्य, ज्ञान तथा अनन्त आनन्द रस स्वरूप से बरतते हैं, यह वेद सिद्ध करते हैं ।

(१) **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।**

जिससे यह प्राणी-समुदाय उत्पन्न होता है, जिसमें रहा हुआ है और जिसमें लीन होता है, वह ब्रह्म है ।

(२) **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।**
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।

जिन्होंने प्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न किया और उन्हें वेद दिये, उन चित्त तथा बुद्धि के प्रकाशक परमात्मा के, इस संसारश्रम से मुक्त होने की इच्छा से, शरण में जाता हूँ ।

(३) **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।**

परमात्मा सत्य, ज्ञान, अनन्त रूप है ।

(४) **यः सर्वज्ञः सर्ववित् ।**

वह सर्वज्ञ और सर्ववेता है ।

२१२. ईश्वर महान् एवं निर्विकार है

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/८७/१५

अर्थ – इन्द्रादि सब पदार्थ ब्रह्म ही हैं, यह विद्वान जानते हैं, क्योंकि (सबका प्रलय होने पर) केवल एक ब्रह्म ही बाकी रहता है और ब्रह्म से ही सब की उत्पत्ति तथा नाश होता है । तथापि वह अविकारी रहता है । स्वयं प्रपंच का अधिष्ठान होने से विकार से रहित ही है, जैसे घट आदि पदार्थ मिट्टी से उत्पन्न होते हैं और पुनः मिट्टी में लीन हो जाते हैं । वेद के

मंत्र अथवा उन मंत्रों के द्रष्टा ऋषि मन द्वारा आचरित तात्पर्य एवं वचन से उच्चारित इन्द्रादि नाम को आप स्वयं के रूप से सिद्ध करते हैं, भिन्न विकार के रूप से नहीं । जिस प्रकार पृथ्वी के ऊपर घूमने वाले सर्व प्राणियों-के पदचिन्ह, कहीं भी रखे हों––मिट्टी, पत्थर या ईंट पर–– पृथ्वी के ऊपर ही रखे हुए गिने जाते हैं उसी प्रकार किसी भी विकार का वर्णन करने वाले वेद आपको ही सबका कारण और परमार्थस्वरूप बताते हैं ।

(१) **वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।**

वाणी से उच्चारित नाम विकार है । वास्तव में मिट्टी ही सत्य वस्तु है, घटादि नाम के सिवा मिट्टी में किसी प्रकार का विकार ही नहीं है ।

(२) **सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।**

यह जो कुछ दिखाई-सुनाई देता है, सब ब्रह्म है ।

२१३. अनुग्रह से ही आनन्द

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदमजस्र सुखानुभवम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/८७/१६

अर्थ – हे त्रिगुणात्मक मायारूपी मृगी को नचाने वाले ! आप ही सब के कारण होने से सत्यस्वरूप हैं, यह मानकर विवेकी पुरुष समग्र लोक के पापरूपी मैल को नष्ट करने वाले आपकी कथारूप अमृत-समुद्र में स्नान कर, इसका सेवन कर पापों या दुःखों का त्याग करते हैं । इस प्रकार आपकी कथामात्र से जब पाप छूट जाते हैं तब यह परम ! आपके स्वरूप के प्रकाश से ही अन्तःकरण के रागादि गुणों और काल के वृद्धत्व आदि गुणों का त्याग करने वाले पुरुष नित्य सुख के अनुभव-स्वरूप आपके

स्वरूप का भजन करें और उनके पाप या दुःख दूर हो तो क्या आश्चर्य ?

(१) यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यते एवमेवंविदि
पापं कर्म न श्लिष्यते ।

जिस प्रकार कमलपत्र पर जल का स्पर्श नहीं होता उसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुष को पापकर्म का सम्बन्ध नहीं होता ।

(२) न कर्मणा लिप्यते पापकेन

आत्मज्ञानी पुरुष पापकर्म से अलिप्त रहता है ।

२१४. सत्-असत् से पर शेष स्वरूप परब्रह्म

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/८७/१७

अर्थ – यदि प्राणी आपकी सेवा में तत्पर हों तो उनका जीवन सफल गिना जाता है । किन्तु जो प्राणी ऐसे न हों तो लोहार की धमनी की तरह व्यर्थ श्वासोच्छ्वास लेते हैं । महत् तत्त्व और अहंकार आदि तत्त्वों ने ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया वह आपके अनुग्रह से ही हुआ । अन्नमय आदि कोषों में अन्तिम आनन्दमय कोष आप ही हैं । कार्य-कारण से पर और इन सब में भी शेष रहनेवाला जो ऋत (सत्य) है, वह आप ही हैं ।

असूर्या नाम ते लोका अंधेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।

जो आत्मघाती हैं—आत्मस्वरूप को नहीं जानते, वे मृत्यु के बाद गाढ़ अज्ञानरूप अन्धकार से आवृत असुर लोक में जाते हैं।

न चेदवेदीन्महती विनष्टिः।

जिसने इस मनुष्यलोक में अधिकारी बनकर मृत्यु के पहले आत्मस्वरूप को नहीं जाना, उसका महाविनाश निश्चित है।

स वा एव पुरुषोऽन्नरसमयः।

२१५. ईश्वर-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे।।

श्रीमद्भागवत १०/८७/१८

अर्थ—ऋषियों के द्वारा बताये हुए मार्गों में से जो लोग उदर (कर्ममार्ग अथवा मणिपूर चक्र) की उपासना करते हैं वे कूर्पदृक्-स्थूल दृष्टिवाले (अथवा, शर्कराक्ष वंश के) हैं। जो लोग नाडियों के प्रसरण-स्थल हृदयरूप योगमार्ग की उपासना करते है वे आरुणि (अल्प प्रकाश युक्त अथवा अरुण वंश के) हैं। हे अनन्त! उन दोनों स्थानों से अर्थात् कर्ममार्ग और योगमार्ग से आपका परम धाम ऊँचाई पर (श्रेष्ठ) है। उस धाम को प्राप्त कर प्राणी पुनः मृत्यु के मुख में नहीं पड़ते।

उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो ब्रह्मा हैवैता इत ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पत्तच्छिरोऽश्रयत, यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः।

उदर ब्रह्म है, अर्थात् स्थूल बुद्धि वाले शर्कराक्ष ऋषि वंशज उदर में रहे हुए वैश्वानर उपाधिवाले ब्रह्म की उपासना करते हैं और अरुण के वंश के उद्दालक ऋषि 'हृदय ब्रह्म है' यह मानकर हृदय में रहे हुए दहराकाश ब्रह्म की उपासना करते हैं।

२१६. विनाशी में एकरस अविनाशी

स्वकृत विचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ।।

श्रीमद्भागवत १०/८७/१९

अर्थ – आपके द्वारा ही निर्मित देव-मनुष्यादि विचित्र योनियों में कारणरूपता से मानो प्रवेश करते हों इस प्रकार आपके निर्माणरूप संसार का अनुकरण करने वाले आप, अग्नि की तरह, तर-तम-भाव से (न्यूनाधिक प्रकार से) प्रकाशमान लगते हैं। तथापि, जिनके सर्व व्यवहार सर्वतः अलग हो गये हैं ऐसे निर्मल बुद्धि के सन्त पुरुष, मिथ्याभूत योनियों में समभाव से स्थित, एक रस रूप, सत्य आपके स्वरूप को जानते हैं।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ :
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।

श्वेताश्वतर ६-११

परमेश्वर एक ही है। सर्व प्राणियों में वे गुप्त रूप में रहे हुए हैं (व्याप्त है)। वे सर्व प्राणियों के अन्तरात्मा हैं, कर्माध्यक्ष (शुभाशुभ कर्म के फल देने वाले) हैं। वे सर्व के निवास, सर्व के साक्षी, चेतनस्वरूप, केवल एकमात्र एवं निर्गुण हैं।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। उपनिषद्

२१७. आत्मा ईश्वर का अबंधन चित्स्वरूप

स्वकृत पुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृत् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ।।
श्रीमद्भागवत १०/८७/२०

अर्थ – महापुरुष, अपने कर्म से प्राप्त देह में रहे हुए आत्मा को बाहर एवं भीतर से किसी प्रकार के बंधन से रहित और अखिल शक्तिधारी आपका अंशरूप मानते हैं । इस प्रकार की जीवगति देखकर वे तत्त्व निर्णय करके, सम्पूर्ण विश्वास से, इस संसार में आपके मोक्षदायक चरणों की उपासना करते हैं ।

तत्त्वमसि ।

वह (माया-उपहित चेतन-ब्रह्म) तू (अविद्या-उपहित चेतन-जीव) है, वह तू है ।

विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च ।
विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ।।
तै. उ. २/५

अर्थ – विज्ञान अर्थात् यथार्थानुभव ज्ञान को और वेद के कर्मानुष्ठान को विस्तृत करता है। सब देवता विज्ञानस्वरूप ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं ।

२१८. भक्त परमहंस के संग से मोक्ष

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो–
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ।।
श्रीमद्भागवत १०/८७/२१

अर्थ – समझने में मुश्किल आत्म-तत्त्व के निर्णय के लिए ही अवतार धारण करने वाले आपके चरित्ररूपी अमृत-सागर में स्नान करने से श्रमरहित बने हुए कुछ विरल पुरुष, गृहादि सुखों को त्यागकर आपके चरणकमल में खेलने वाले हंस जैसे भक्तों के संग से मोक्ष की भी कामना नहीं करते ।

यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च ।

जिस भक्त पुरुष को सब देव (विषयी मनुष्य), मुमुक्षु और ब्रह्मवादी (मुक्त पुरुष) नमन करते हैं ।

२१९. माया के कारण ही आत्मा परमात्मा से दूर

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियव–
च्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽऽत्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥

श्रीमद्भागवत १०/८७/२२

अर्थ – आपकी सेवा के लिए उपयोगी यह शरीर मित्र एवं प्रिय स्वजन की तरह स्वाधीन है तथा हितकारी, प्रिय और आत्म-स्वरूप आप सन्मुख हैं, फिर भी (माया के कारण) असत्य देहादि की क्रीड़ा में तल्लीन रहने वाले जीव आप में रममाण नहीं रहते हैं । इस प्रकार वासना में डूबे हुए मनुष्य नीच शरीर धारण करते हैं और भयंकर संसार में भटकते रहते हैं ।

(१) **आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यन्ति कश्चन ।**

इस परमेश्वर के क्रीड़ा-स्थान-बागरूप इस विश्व को सब लोग देखते हैं, किन्तु उस बाग के बनाने वाले परमेश्वर को कोई नहीं देखता ।

(२) **न तं विदाथयइमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।**
नीहारेण प्रावृता जल्प्या स्वासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

जिसने इन प्रजाओं को उत्पन्न किया है उस परमात्मा को तुम नहीं जानते। यही कारण है कि तुम्हारे और परमेश्वर के बीच बड़ा अन्तर पड़ गया है। इसीलिए तो अविद्या के आवरण में डूबकर बेसिर पैर की बातें करते हो, खोटे तर्क करते हो, केवल अपने प्राणों को तृप्त करने में तत्पर रहते हो, यज्ञयागादि करते रहते हो और संसार में भटकते रहते हो।

२२०. उपासना द्वारा ईश्वर-धारणा

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य–
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रसरोजसुधाः

श्रीमद्भागवत १०/८७/२३

अर्थ – प्राण, इन्द्रियों तथा मन को वश में रखकर दृढ़ योग धारण करने वाले मुनि जिसकी उपासना करते हैं ऐसे आपको, शत्रु आपके स्मरणमात्र से और नागराज के फन जैसे आपके बाहुओं में चित्त रखने वाली स्त्रियाँ कामना से प्राप्त हुई हैं। हे प्रभो, हम श्रुतियाँ भी समदृष्टि वाली एवं आपके चरणकमल के अमृत को धारण करने वाली हैं।

आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

अरे, आत्मा ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने योग्य है।

२२१. ईश्वर अगम्य है

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा॥

श्रीमद्भागवत १०/८७/२४

अर्थ – जिससे ब्रह्मा और उनसे फिर देवसमुदाय उत्पन्न हुआ, ऐसे अनादिसिद्ध आपको, बाद में उत्पन्न होने वाला और नष्ट होने वाला कौन-सा मनुष्य जान सकता है ? प्रलय के समय, जब कि सत् या असत् नहीं रहता और सर्व शास्त्रों का अपने अन्दर उपसंहार कर आप शयन करते हैं, तब भी आपके स्वरूप को वह कैसे जान सकता है । (इसीलिए वर्तमान काल में मानव के लिए भक्ति ही एक श्रेष्ठ उपाय है) ।

(१) **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।**

मन सहित वाणी जिनको प्राप्त किये बिना ही लौट आती है ।

(२) **को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः ।**
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ।।

यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुई और किससे स्थिति को प्राप्त हो रही है, इसको प्रत्यक्ष रूप में कौन जानता है ? कोई नहीं जानता । इस संसार में कौन प्रवक्ता था ? कोई नहीं । इस सृष्टि की अपेक्षा ब्रह्मादि देव भी अर्वाचीन हैं । अतः यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है उसको कौन जानता है ? कोई नहीं ।

२२२. प्रभु का यथार्थज्ञान होने पर भेदाभाव

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां ।
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता ।
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ।।

श्रीमद्‌भागवत १०/८७/२५

अर्थ – हे भगवन् ! कुछ लोग (न्याय मत वाले) अविद्यामान की उत्पत्ति और विद्यमान का नाश मानते हैं, नास्तिक देह को ही आत्मा मानते हैं, मीमांसक व्यापारी फल की भाँति अनित्य स्वर्गादि को नित्य मानते हैं । इतना ही नहीं, अपितु उस मिथ्या सिद्धान्त का समर्थन व उपदेश भी करते हैं । सत्त्व, रजस् और तमोगुण से भरा हुआ जीव ही चैतन्यमय

है (उससे भिन्न कोई ईश्वर नहीं है)। यह कपिलमत-वादियों की मान्यता है। आपके बारे में यथार्थ ज्ञान न होने से ही ये मतभेद हैं। आपका यथार्थ ज्ञान होने पर ये भेद नहीं रहते।

(१) **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। असद्वा इदमग्र आसीत्।**
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। अनीशया शोचति मुह्यमानः॥

हे सौम्य! यह जगत् प्रथम सत् रूप अर्थात् ब्रह्मरूप ही था। अथवा, असद् (जीव) रूप में भी सर्वप्रथम था। जीव भी ब्रह्मरूप ही है, अतएव ब्रह्मस्वरूप होता है। माया से मोहित जीव व्यर्थ शोक करता है।

(२) **अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।**
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धैनैव नीयमाना यथान्धाः॥

अविद्या में डूबे हुए, अपने आपको बुद्धिमान और पंडित मानने वाले अन्धे की तरह, अतिशय मूढ़ पुरुष, अन्ध पुरुष का अनुसरण करने वाले पीड़ित होकर संसार में भटकते रहते हैं।

(३) **एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।**

ब्रह्म एक और अद्वितीय है।

२२३. ईश्वर का व्यक्ति या समष्टि रूप से व्यापकत्व

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्।
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः॥
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया।
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम्॥

श्रीमद्भागवत १०/८७/२६

अर्थ – यह त्रिगुणात्मक जगत् मात्र मनरूप कारण से उत्पन्न हुआ है। वह मिथ्या होने पर भी आपकी सत्ता से मनुष्य से लेकर सब जीवों को सत्य समान प्रतीत होता है। आत्मज्ञानी लोग इस जगत को, उसमें आत्मसत्ता व्यापक होने से, सत्यरूप मानते हैं। अलंकार सुवर्ण का विकार

है, तथापि सुवर्ण उसमें व्यापक होने से लोग (उस अलंकार के टूट जाने पर भी) उसका त्याग नहीं करते। इसी प्रकार आप स्वयं के उत्पन्न किये हुए जगत में (व्यष्टि या समष्टि रूप में) व्यापक हैं।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।

नेह नानास्ति किंचन।

इस जगत में (ब्रह्म के सिवाय) भिन्न-भिन्न कुछ है ही नहीं।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

जो मनुष्य इस जगत में सर्व को ब्रह्म से भिन्न रूप में देखता है वह एक मृत्यु के बाद दूसरा मृत्यु, अर्थात् जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त करता है।

२२४. भिन्नद्रष्टा मृत्युभागी है

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया।
त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः॥
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः॥

श्रीमद्भागवत १०/८७/२७

अर्थ—सब जीवों में आपका चैतन्य होने से आप व्यापक हैं, ऐसा मानकर जो आपकी परिचर्या करते हैं, वे मृत्यु की उपेक्षा कर उसके मस्तक पर पैर रखते हैं। विद्वान होते भी जो आपकी भक्ति से विमुख होते हैं उन्हें, पशु जैसे बंधनयुक्त बनता है उसी प्रकार, वाणी से बंधन में डालते हैं। जब कि आपकी भक्ति करने वाला पुरुष स्वयं को तथा अन्य को पवित्र करता है, किन्तु जो आपसे विमुख हैं वे पवित्र नहीं कर सकते।

तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि। तस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्।

अर्थ – परमेश्वर की वेदरूप वाणी बड़ी रज्जु है और 'ब्राह्मण' आदि नाम दाम है। जिस प्रकार बड़ी रज्जु में दाम से बैलों को बाँधते हैं उसी प्रकार विधि-निषेधरूप ईश्वर की वेदवाणी रूप बड़ी रज्जु में दाम जैसे नामों से यह सम्पूर्ण जगत् बँधा हुआ है।

२२५. निरिन्द्रिय होने पर भी सर्वशक्तिमान् सम्राट् ईश्वर

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर–
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ।।
श्रीमद्भागवत १०/८७/२८

अर्थ – आप स्वतः सिद्ध ज्ञान शक्तिवाले हैं। समग्र जगत को इन्द्रियों की शक्ति देने वाले होने पर भी आप निरिन्द्रिय हैं। आपकी सत्ता एवं माया से ही ब्रह्मादि देव, आपके दिये हुए अधिकारों का उपभोग करते हैं और, अधीनस्थ राजा चक्रवर्ती राजा को कर देते हैं उसी प्रकार, आपसे डरकर आपको बलि देते हैं।

(१) **अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।**
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।।

जिसके हाथ नहीं हैं फिर भी सब कुछ ले सकता है, पैर नहीं है फिर भी जो वेगवान है, नेत्र नहीं हैं फिर भी सब कुछ देख सकता है, कान नहीं हैं फिर भी सब सुन सकता है, जानने योग्य सब जानता है और जिसे जानने वाला कोई भी नहीं है, वही सर्वश्रेष्ठ पुराण-पुरुष परमात्मा है, ऐसा विद्वान कहते हैं।

(२) **भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।**
भीषादग्निश्च चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।

इस परमात्मा के भय से वायु चलता है, सूर्य उगता है, अग्नि जलता है, चन्द्र प्रकाशित है और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ रहा है।

२२६. मायाविहारी होने पर भी आकाशवत् उससे पर

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः॥

श्रीमद्भागवत १०/८७/२९

अर्थ – हे नित्यमुक्त ! आप माया से पर होने पर जब माया के सहज स्वीकार रूप विहार करते हैं तब उसी माया से प्राप्त कर्म निमित्त बनकर उच्च, नीच, स्थावर, जंगम आदि जातिवाले जीवों को उत्पन्न करते हैं। जिनके पद को कोई जान नहीं सकता ऐसे आप सब के प्रति आकाश की तरह समान हैं। आप परम के लिए कोई पराया या अपना नहीं है।

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवामेवास्माद्वात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति

जिस प्रकार एकदम और अद्वितीय अग्नि से छोटे-छोटे स्फुलिंग निकलते हैं उसी प्रकार इस परमात्मा से सर्व प्राण, लोक, सर्व देव, सर्व भूत और सर्व जीव उत्पन्न होते हैं।

२२७. ब्रह्मतत्त्व अज्ञेय है

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता–
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥

श्रीमद्भागवत १०/८७/३०

अर्थ – हे ध्रुव ! यदि जीवों को अनन्त, नित्य और सर्वव्यापक मान लिया जाय तो (वे आपके समान बन जाएँगे, अतः) आपका शासन उनके ऊपर चल नहीं सकता। किन्तु ऐसा नहीं है। जिससे कोई वस्तु अथवा

पदार्थ उत्पन्न होता है वही उसका नियामक भी होता है । जो ऐसा कहते हैं कि 'हम ब्रह्म को जानते हैं', वे ब्रह्म को नहीं जानते (क्योंकि परब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है) । जो जान लिया जाता है वह दृष्ट—अनात्म पदार्थ है ।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।

जो ब्रह्मज्ञानी यह जानता है कि ब्रह्म को जान लेना शक्य नहीं है (अर्थात् ब्रह्म अज्ञेय है) उसी ने ब्रह्म को जान लिया है और जिसको यह निश्चय हो गया है कि 'मैंने ब्रह्म को जान लिया है', वह ब्रह्म को जानता ही नहीं है; क्योंकि ब्रह्मज्ञानियों का यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है और ब्रह्म को न जानने वालों का यह मत है कि ब्रह्म ज्ञान का विषय है ।

अवचनेनैव प्रोवाच स ह तूष्णीं बभूव ह ।

उन्होंने बिना कुछ बोले ही बता दिया कि ब्रह्म वाणी तथा मन का अविषय है । तब श्रोताओं ने उसी लक्षण से जान लिया कि ब्रह्म सारे प्रमाणों का अविषय है । इसीलिए वे मौन रहे, उन्होंने कोई प्रश्न न किया ।

२२८. प्रकृति और पुरुष

(विवर्तवाद)

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो—
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ।।

श्रीमद्भागवत १०/८७/३१

अर्थ – प्रकृति और पुरुष दोनों अजन्मा हैं । उनका जन्म घटित नहीं होता । किन्तु दोनों के संयोग से जीव, पानी में बुद्बुद की तरह, जन्मते हैं । अनेक नाम और गुण से जब वे आप-परम पुरुष में, नदियाँ समुद्र

में मिलती हैं उसी तरह, लीन हो जाते हैं तब, जिस प्रकार मधु में एक ही मधुर रस होता है और अन्य पुरुषों के रस मालूम नहीं पड़ते उसी प्रकार, अपने-अपने विभिन्न रस एक हो जाने पर आपके स्वरूप में लीन हो जाते हैं।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

मूल प्रकृति अजन्मा है। रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुणरूप है, त्रिगुणात्मक है, अनेक प्रजाओं को उत्पन्न कर रही है। शब्दादि विषय रूप बनी हुई उस प्रकृति का एक अजन्मा-जीव सेवन करता है, अतः निरन्तर मोहित होता है, किन्तु दूसरा अजन्मा-परमात्मा जीव के द्वारा भोगी हुई उस प्रकृति का त्याग करता है——उसमें आसक्त नहीं होता।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तदा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलती हैं तब नाम तथा रूप का त्यागकर अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म को जानने वाला पुरुष नाम तथा रूप से रहित बनकर दिव्य परमात्मा को प्राप्त होता है——परमात्मा के साथ एक रूप बन जाता है।

२२९. ईश्वर शरण से ही निर्भयता

नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम्।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद् भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥

श्रीमद्भागवत १०/८७/३२

अर्थ—हे प्रभु ! आपकी माया से ही ऐसे (आपके स्वरूप में से प्राप्त होना और कर्म करते हुए अन्त में आपके स्वरूप में लीन होना—इस प्रकार के) परिभ्रमण अनेक योनियों में होते हैं। इस बात का अच्छी

तरह विचार कर बुद्धिमान पुरुष आप-अजन्मा के प्रति प्रेम रखते हैं। आपके सेवकों को भय कैसा ? जो लोग आपके शरण का स्वीकार नहीं करते उनको ही आपकी भ्रुकुटि रूप काल बारम्बार भयभीत करता है।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्
परीत्य सर्वा: प्रदिशो दिशश्च ।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्या–
त्मनात्मानमभि संविवेश ।।

सर्व प्राणियों में आत्मा एक ही है, यह जानकर और स्वर्गादि लोक कर्म से प्राप्त होते हैं इसलिए अनित्य हैं, यह मानकर, वेदवाणी का सेवन करने वाला मुमुक्षु पुरुष मन से परमेश्वर के स्वरूप में लीन हुआ।

२३०. सन्त-संसारतरण की दृढ़ नौका, प्राणिमात्र के आत्मरूप

विजितहृषीक वायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिद: ।
व्यसनशतान्विता: समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यक्तकर्णधरा जलधौ ।।

श्रीमद्भागवत १०/८७/३३

अर्थ – इन्द्रियों तथा प्राण को वश करने वाले योगियों से भी वश न होने वाले मन रूपी चंचल अश्व को, उपाय न जानने वाले जो मनुष्य वश में करना चाहते हैं उन्हें अनेक कष्ट पड़ते हैं। हे अजन्मा, गुरुचरण का आश्रय लिये बिना उनकी दशा ऐसी ही होती है जैसी कि समुद्र में यात्रा करने वाले और चालक-रहित जहाज में बैठे हुए व्यापारी की होती है।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए मुमुक्षु को हाथों में समिधा लेकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय के पास जाना चाहिए

आचार्यवान् पुरुषो वेद ।

गुरु का स्वीकार करने वाला पुरुष ब्रह्म को जान सकता है ।

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।

वेदान्त शास्त्र से प्राप्त होने वाला आत्मज्ञान केवल तर्कों से प्राप्त नहीं होता । उसे तो कोई निपुण आचार्य समझाए तभी उसका साक्षात्कार हो सकता है ।

२३१. सांसारिक सम्बन्ध अनित्य एवं दुःखमय, उसके त्याग से निर्भयता

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरा सुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ।।

श्रीमद्भागवत १०/८७/३४

अर्थ – सर्व रसस्वरूप आपकी प्राप्ति होते ही स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, मकान, भूमि, प्राण, रथ आदि कोई सुख नहीं दे सकते––इस सत्य को जो लोग नहीं जानते और सांसारिक उपभोगों में ही डूबे रहते हैं उन्हें, स्वयं उत्पन्न किया हुआ असार संसार क्या सुख दे सकता है ?

(१) **परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन ।**

स्वर्गादि लोकों को कर्मों से प्राप्त होते देख, अनित्य जान, ब्रह्म निष्ठ पुरुष वैराग्य धारण करे; क्योंकि नित्य-स्वतःसिद्ध मोक्ष नाशवंत-कृत्रिम कर्मों से कभी नहीं मिलता ।

(२) यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।

जब मुमुक्षु के हृदय में वासना रूप से रहे हुए विषय छूट जाते हैं तब वह अजर-अमर बनता है और यहीं पर ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

२३२. जगत् सत्स्वरूप है

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरित क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्।।
श्रीमद्भागवत १०/८७/३६

अर्थ – ब्रह्मरूप सत्य से उत्पन्न होने वाला जगत् सत्य (ब्रह्मरूप) ही हो सकता है––ऐसा माना जाय तो, यह सिद्धान्त तर्क के आगे टिक नहीं सकता। (चेतन युक्त शरीर से नख, बाल आदि अचेतन पदार्थ मी उत्पन्न होते हैं)। कभी-कभी उसमें वैपरीत्य भी दिखाई देता है। (गोबर अचेतन है किन्तु उसमें से चेतनामय बिच्छू उत्पन्न होता है)। कभी-कभी मिथ्या लगता है। (रज्जू में सर्प)। जब कि कभी इसमें सत्य और असत्य––दोनों दीखते हैं। (खरे रुपये से व्यवहार चलता है, किन्तु खोटे रुपये में भी खरे की भ्रान्ति होती है तब खोटा रुपया भी खरा साबित होता है)। जगत का व्यवहार 'अंध परम्परा न्याय' से चलता है। (इसलिए जगत सत्य है––यह सिद्ध नहीं होता)। अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से भले ही जगत सत्य हो, वास्तविकता से नहीं। अर्थवाद-कर्मफल बताने वाली वेदवाणी उसमें विश्वास रखकर जड़ बने हुए कर्मवादियों को भ्रमणा में डालती है।

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।

जिस प्रकार इस लोक में कर्म से प्राप्त किये हुए धान्य आदि नाशवान् है उसी प्रकार पुण्य से प्राप्त परलोक (स्वर्गादि) भी नाशवान ही है।

२३३. जीव-ब्रह्म की एकता

(माया के त्याग से जीव ब्रह्मरूप बनता है)

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः ।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ।।

श्रीमद्भागवत १०/८७/३८

अर्थ – जीवात्मा जब माया के कारण अविद्या में फँस जाता है और उसके गुणधर्मों का स्वीकार करता है तब उसके आनन्दादि भगवद्गुण ढँक जाते हैं। तब वह देह तथा इन्द्रियों के धर्म को अपने मानकर मृत्यु का आलिंगन करता है। आप तो नित्य प्राप्त अष्ट सिद्धियों के अपार ऐश्वर्य में विराजमान हैं। अतः, जैसे साँप कंचुक का त्याग करता है उसी प्रकार, आप ऐश्वर्य में भी उस माया से मुक्त हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य–
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

जीव तथा ईश्वर नाम के दो सुन्दर गतिवाले पक्षी बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से नित्य साथ-साथ रहते हैं और उपकार्य-उपकारक भाव से मित्ररूप में व्यवहार करते हुए वृक्षरूप एक ही शरीर का आश्रय करते हैं। उनमें से एक अर्थात् जीव, कर्म के फल, सुख आदि स्वादिष्ट लगते हों इस प्रकार, उन्हें भोगता है जब कि दूसरा ईश्वर कर्मफल का उपभोग न कर प्रकाशरूप से विराजमान है।

२३४. वासना से ही दुःख

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया-
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ।।

श्रीमद्भागवत १०/८७/४०

अर्थ – जिसे आपका ज्ञान हो चुका है वह व्यक्ति, आपसे प्रगट हुए प्राचीन पुण्य-पापों के फलरूप सुख-दु:खादि सम्बन्धों तथा देहाभिमानियों को लागू पड़ने वाले विधि-निषेध के वचनों की उपेक्षा करता है। हे सगुण ! प्रत्येक युग में धर्मानुसार श्रवण द्वारा जो हृदय में आपकी धारणा करते हैं, उनकी मोक्षगति आप हैं ।

अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः।
विश्व ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दा : ।।

अथर्ववेद २/६/५

अर्थ – हे अग्नि, तू पापवृत्तियों का अतिक्रमण कर, द्वेषभाव का अतिक्रमण कर और सारी पापवृत्तियों को पार कर। हम सब के लिए तू वीर पुरुषों के साथ रहने वाला धन ले आ ।

२३५. ईश्वर विश्रामस्थान, तथापि 'नेति-नेति' अवर्ण्य

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
रव इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ।।

श्रीमद्भागवत १०/८७/४१

अर्थ – जिस प्रकार आकाश में रज:कण और पक्षी भ्रमण करते हैं किन्तु उसके पार को पहुँच नहीं सकते उसी प्रकार आप अनन्त हैं, इसलिए

आवरण सहित अनेक ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्मादि देव आपके पार को प्राप्त नहीं कर सकते । हम श्रुतियाँ भी सगुण स्वरूप के गुण अनन्त होने से और निर्गुण स्वरूप में वाणी पहुँच नहीं सकती इसलिए आपका साक्षात् निरूपण नहीं कर सकतीं । हमसें रहे हुए विधि-निषेध की आप अवधि हैं ।

यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यद्वार्वाक् पृथिव्यां यदन्तराद्यावापृथिवी इमे यद् भूतं भवच्च भविष्यच्च ।

(याज्ञवल्क्य कहते हैं) —हे गार्गी, जो कुछ आकाश के ऊपर, पृथ्वी के नीचे और आकाश तथा पृथ्वी के बीच में है, यह जो आकाश और पृथ्वी है, जो कुछ भूतकाल में बन गया, वर्तमानकाल में बनना है और भविष्य में बनेगा, वह सब ब्रह्म है ।

२३६. श्रीकृष्ण की कुलसंहार की इच्छा

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चिन्-
मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ।
अन्तः कलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु-
स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ।।

श्रीमद्भागवत ११/१/४

अर्थ – इस यादव-कुल का अन्य देवों आदि से भी पराजय होना सम्भव नहीं है; क्योंकि इस कुल को मेरा आश्रय मिला है । इसके उपरान्त हाथी, घोड़े, आदि वैभवों के कारण यह कुल उच्छृंखल बन गया है । इसलिए, जिस प्रकार वायु (परस्पर घर्षण से) बाँस के वन को नष्ट करने वाले अग्नि को प्रदीप्त करके शान्त होता है उसी प्रकार मैं भी इस यादव कुल का नाश करने वाला कालात्मा बनकर परस्पर का कलह उत्पन्न कर शान्ति प्राप्त करूँगा और फिर स्वधाम जाऊँगा ।

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ।।
अथर्ववेद १९/५४/१

काल से जल उत्पन्न हुआ । काल से ब्रह्म, तप और और दिशाएँ प्रकट हुई तथा काल से ही सूर्य उदित होता है और काल में ही फिर समा जाता है ।

२३७. ईश्वर से विमुख को भय

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या–
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं–
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ।।
श्रीमद्भागवत ११/२/३७

अर्थ – भय भगवान की माया से उत्पन्न होता है । अतः बुद्धिमान मनुष्य भगवान का ही भजन करे । ईश्वर-विमुख को परमात्मा की माया के कारण भगवत्स्वरूप का विस्मरण होता है, जिससे 'यह देह मैं हूँ' ऐसा विपरीत ज्ञान होता है । इस प्रकार द्वैतबुद्धि होने पर मनुष्य को भय अर्थात् संसार-प्राप्ति होती है । इसीलिए गुरु में ईश्वरबुद्धि तथा आत्मबुद्धि रखकर केवल एकनिष्ठ भक्ति से परमेश्वर का भजन करना चाहिए ।

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि ।
यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ।।
अथर्ववेद १४/१/३८

अर्थ – मैं परमात्मा दुष्टों की हिंसा करने वाला, भक्तों की रक्षा करने वाला अत्यन्त प्रकाशमान, दूसरे को दूषित करने वाले, दूसरों को कँपाने वाला, भयानक, सामने दृष्टिगोचर होते ही इस सारे विश्व को अपने भीतर ले जाने वाला विराट रूप धारण करता हूँ । जो कल्याणकारी, सुन्दरता से प्रकाशमान चतुर्भुज देह है, उस देह को अर्थात् उस स्वरूप को उत्कृष्ट रूप में प्रकट करता हूँ । हे भक्त ! इसलिए तू उस सुन्दर रूप को देख, अपने से भय और कंप को दूर कर ।

२३८. व्यापक सर्वेश्वर

खं वायुमग्नि सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ।।

श्रीमद्भागवत ११/२/४१

अर्थ – भक्त भगवत्स्वरूप बनकर आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्रादि ज्योतिर्गण सर्व प्राणीमात्र, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र तथा अन्य जो पदार्थ हैं, उन सबको भगवान का स्वरूप मानकर, उन सब स्वरूपों में साक्षात् भगवान ही प्रकट हुए हैं, यह जानकर उन्हें प्रणाम करता है ।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

ईशोपनिषद् १

अर्थ – जगत में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है, अर्थात् उसे भगवत्स्वरूप अनुभव करना चाहिए । विषयों के त्याग-भाव से तू अपना पालन कर । किसी के धन की इच्छा न कर ।

२३९. ब्रह्म-सदसत् से पर

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ।।

श्रीमद्भागवत ११/३/३७

अर्थ – स्थूल कार्य और सूक्ष्म कारण यह सब ब्रह्म ही है; क्योंकि ब्रह्म कार्य-कारण का भी कारण है । प्रत्येक कार्य कारण से भिन्न नहीं होता ।

संसार के सर्व विषय कहने मात्र के लिए हैं, परब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म अनेक शक्तियों से युक्त है। जब सृष्टि न थी तब वह एक ही था। फिर वही त्रिगुणमयी सृष्टि के रूप में प्रकट हुआ, जिसका प्रकृति के रूप में वर्णन किया गया है। फिर उसी का ज्ञानप्रधान होने से महत्तत्त्व के रूप में, क्रियाप्रधान होने से सूत्रात्मा के रूप में और जीव की उपाधि होने से अहंकार के रूप में वर्णन किया गया है। वास्तव में इन्द्रियों में रहने वाले, इन्द्रियों द्वारा ज्ञान कराने वाले देव, इन्द्रियाँ और उनके विषय–सब कुछ ब्रह्म ही है।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम्।

बृ. आ. उ. ३/७/१५

अर्थ – जो समस्त प्राणियों में स्थित रहने वाला समस्त भूतों के भीतर है, जिसे समस्त प्राणी नहीं जानते, समस्त प्राणी जिसके शरीर हैं और जो भीतर रहकर समस्त प्राणियों का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अमृत है। यह अधिभूतदर्शन है।

२४०. संत के अपमान के कारण

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।

जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः॥

श्रीमद्भागवत ११/५/९

लक्ष्मी, ऐश्वर्य, विशाल परिवार, विद्या, दान, रूप, बल तथा कर्म–– इन सब से उत्पन्न हुए गर्व के कारण अंध बुद्धि वाले दुष्ट पुरुष ईश्वर का एवं श्रीहरि के भक्त सत्पुरुषों का अपमान करते हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।।

ईश. उ. ९

अर्थ – जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे (अविद्यारूप) घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या (उपासना) में ही रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं ।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।

कठोपनिषद् १/२/५

अर्थ – अविद्या के भीतर रहने वाले, अपने आप बड़े बुद्धिमान बने हुए और अपने को पंडित मानने वाले, मूढ़ पुरुष, अन्धे से ही ले जाये जाते हुए अन्धे के समान अनेकों कुटिल गतियों की इच्छा करते हुए भटकते रहते हैं ।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।

कठोपनिषद् १/२/६

अर्थ – धन के मोह से अंधे हुए और प्रमाद करने वाले उस मूर्ख को परलोक का साधन नहीं सूझता । यह लोक है, परलोक नहीं है––ऐसा मानने वाला पुरुष बारम्बार मेरे वश को प्राप्त होता है ।

विशेष के लिये देखिये ऋ. -६/६२/२

२४१. विष्णुशक्ति

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता–
ननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्–
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ।।

श्रीमद्भागवत ११/४/२

अर्थ – जो पुरुष अनंत भगवान के अपार गुणों की गणना करना चाहता है, वह मंदमति है; क्योंकि पृथ्वी के रज:कण शायद किसी प्रकार से कोई गिन सकता है परन्तु समग्र शक्तियों के निवास-स्थान श्रीभगवान के गुणों को तो कोई गिन ही नहीं सकता ।

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानी विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा ।।
यजु. ५/१८

अर्थ – पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक का निर्माण करने वाले, तीन प्रकार से पदक्रमण करने वाले, विस्तीर्ण गमन वाले और देवों के निवास स्थान रूप द्युलोक को टिकाने वाले भगवान विष्णु के अगण्य पराक्रमों का मैं निरूपण करता हूँ ।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ।।
यजु. ६/४

अर्थ – हे ऋत्विजो ! जिनके द्वारा लौकिक तथा वैदिक कर्मों का निर्माण हुआ है, उस यज्ञ के अधिष्ठाता भगवान विष्णु के चरित्र देखो । वह इन्द्र के अनुरूप सखा है ।

२४२. निषेधसिद्ध ईश्वर

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा–
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः ।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूल–
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ।।
श्रीमद्भागवत ११/३/३६

अर्थ – इस परम तत्त्व को मन, वाणी, चक्षु, बुद्धि, प्राण तथा इन्द्रियाँ जान नहीं सकतीं । जिस प्रकार अग्नि को उसके अपने ही अंशरूप स्फुलिंग प्रकाशित नहीं कर सकते या जला नहीं सकते । शब्द (श्रुतिवचन)

न भी अप मूल रूप इस परमतत्त्व को निषेध-पद्धति से समझाते हैं। अर्थात् ब्रह्म स्थूल या सूक्ष्म नहीं है। वह रूप, रस, गंधादि सर्वगुण, सर्व क्रिया और सर्व सम्बन्ध से रहित है। वेद, जिससे कोई पर नहीं है उस ब्रह्म को सर्व का निषेध कर सर्व की अवधिरूप बताते हैं, परन्तु ब्रह्म अमुक रूप, गुण, क्रिया अथवा सम्बन्ध वाला है––इन प्रकार साक्षात् विधि बताने वाले शब्द से ब्रह्म का निर्देश नहीं करते।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।

केनोपनिषद् १/४

अर्थ – जो वाणी से प्रकाशित नहीं है किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है उसी को तू ब्रह्म जान। जिस बाह्य तत्त्व की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।

केनोपनिषद् १/५

अर्थ – जो मन से मनन नहीं किया जाता, बल्कि जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है उसी को तू ब्रह्म जान। जिस बाह्य तत्त्व की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है।

२४३. ज्ञानी को अन्तराय बाधक नहीं होते

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम्।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे।।

श्रीमद्भागवत ११/७/१०

अर्थ – वेद के तात्पर्य का निश्चय ज्ञान है और उसके अर्थ का अनुभव विज्ञान है। इस ज्ञान-विज्ञान से युक्त होकर प्राणीमात्र के आत्मारूप बने हुए और आत्मानुभव से ही सन्तुष्ट चित्त रहने वाले को विघ्न-बाधा नहीं कर सकते।

तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ।।

ऋग्वेद १/१२/२१

अर्थ – विष्णु का जो पद है उसे कर्मकुशल, जागृत रहनेवाले ज्ञानी सम्यक् प्रकाशित हुआ देखते हैं ।

२४४. नरसखा-नारायण

तस्माद् भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम् ।
निर्विण्णधीरहमु ह वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ।।

श्रीमद्भागवत ११/७/१८

अर्थ – हे भगवन् ! (कुछ लोग दुष्ट स्वभाव के होते हैं, जबकि) आप निर्दोष हैं । (कुछ लोग सेवन करने पर भी फलकाल में नष्ट होते हैं, जब कि) आप देशकाल से अनन्त हैं । (कुछ लोग अज्ञानी होते हैं, जब कि) आप सर्वज्ञ हैं । (कुछ लोग रक्षा करने में असमर्थ होते हैं, जब कि) आप ईश्वर हैं—रक्षण करने में समर्थ हैं । (कुछ लोग स्थान भ्रष्ट होते हैं, जब कि) आपका वैकुण्ठ स्थान काल वगैरह से नष्ट नहीं होता । इसलिये हे नर के सखा, दुःखों से अतिशय संतप्त होकर विरक्त बनी हुई बुद्धिवाला मैं आप नारायण की शरण में आया हूँ ।

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः ।
सखा सखिभ्य ईड्यः ।।

ऋग्वेद १/७५/४

अर्थ – हे भगवन् ! तू सब मनुष्यों का बन्धु है, उनका प्रिय मित्र है और मित्रों के लिए तू प्रशंसनीय मित्र है ।

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा ।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् ।।

अथर्व. ८/९/२२

अर्थ – इस प्रकार 'मेरा कल्याण है' ऐसा जानकर आपकी मित्रता को मैंने प्राप्त किया है। मैं सेवक हूँ। आपका यज्ञ सबके सम प्रयत्न से होने वाला है । वह सबके लिए कल्याणकारी बने। वह यज्ञ हम सबमें प्रचलित हो ।

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ।।

ऋग्वेद ५/५९/६

अर्थ – दुःख-सुख, मित्र-शत्रु, निन्दा-स्तुति और मानापमान में समान रहने वाले वे स्थितप्रज्ञ जीव अपने आपको किसी से बड़ा या छोटा न मानने वाले, उच्च-नीच भाव को दूर रखने वाले मध्यमता से रहित अर्थात् सबको अपने समान जानने वाले, समानता के तेज से संसार में महान् जाने जाते हैं। हे मनुष्यो ! मित्र- शत्रु-शून्यता से सुन्दर जन्म वाले तथा जन्म से ही जिनका पालक ज्ञानदाता परमात्मा है उसको भली-भाँति स्वर्गादि सुखमय लोक से आया हुआ दैवी जीव जानो ।

२४५. अनासक्त-लक्षण

एवं विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ।।
न तथा बद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन्गुणान्।
प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः ।।

श्रीमद्भागवत ११/११/११-१२

अर्थ – ज्ञानी पुरुष (इन्द्रियाँ स्वयं ही कर्म करती है) यह मानकर, वैराग्य युक्त बनकर, सोना, बैठना, घूमना, स्नान करना, देखना, स्पर्श करना, सूँघना, भोजन करना और सुनना आदि क्रियाओं में अज्ञानी की तरह बद्ध नहीं होता; क्योंकि वह ज्ञानी उन-उन विषयों में इन्द्रियों को ही भोग करवाता है, स्वयं तो साक्षी रूप से रहकर उन विषयों का उपभोग नहीं करता । जिस प्रकार आकाश सर्वत्र व्याप्त है फिर भी

कहीं बद्ध नहीं होता, सूर्य जल में प्रतिबिंबित होता है फिर भी उसको जल का स्पर्श नहीं होता और वायु सर्वत्र बहता है फिर भी कहीं विलग्न नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष प्रकृति में रहने पर भी उसमें आसक्त नहीं होता।
—तुलनीय ऋग्वेद ७-५५-६

२४६. जीव-ईश्वर-भेद

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न--
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयात्॥
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा–
न् पिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥

श्रीमद्भागवत ११/११/ ६-७

अर्थ – जिस प्रकार दो पक्षी एक ही वृक्ष पर एक ही घोंसले में रहते हों फिर भी वे वृक्ष से भिन्न ही हैं उसी प्रकार जीव और ईश्वर रूप दो पक्षी शरीररूप एक ही पिप्पल वृक्ष पर हृदय रूप एक ही घोंसले में अवर्ण्य माया के कारण रहे हुए हैं, फिर भी वे दोनों शरीररूप वृक्ष से भिन्न, दोनों चैतन्य रूप से समान, दोनों कभी अलग न पड़ने वाले, दोनों एक मति वाले और मित्र हैं। किन्तु जीव शरीर रूप पिप्पल वृक्ष के फल जैसे कर्मफल खाता-भोगता है, जब कि अन्य (ईश्वर) कर्मफल का उपभोग नहीं करता और स्वरूपानन्द से तृप्त रहता है तथा ज्ञानादि शक्ति से जीव की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

ईश्वर कर्मफल का उपभोग नहीं करता, इसीलिए स्वयं सर्वज्ञ है और स्वयं को तथा जीव को जानता है। किन्तु जीव कर्मफल का उपभोग करता हुआ स्वयं को अथवा अन्य को नहीं जान सकता। इन दोनों में अविद्यायुक्त जीव नित्यबद्ध है और विद्यामय ईश्वर नित्यमुक्त है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य–
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो–
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश–
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

मुण्डकोपनिषद् ३/१/१-३

अर्थ – साथ-साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय करके रहते हैं। उनमें एक तो स्वादिष्ट (मधुर) पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है।

(ईश्वर के साथ) एक ही वृक्ष पर रहने वाला जीव अपने दीन-स्वभाव के कारण मोहित होकर शोक करता है। वह जिस समय (ध्यान द्वारा) अपने से विलक्षण योगसेवित ईश्वर और उसकी महिमा (संसार) को देखता है उस समय शोकरहित हो जाता है।

जिस समय द्रष्टा सुवर्णवर्ण और ब्रह्मा के भी उत्पत्तिस्थान उस जगत्कर्ता ईश्वर पुरुष को देखता है उस समय वह विद्वान् पाप-पुण्य दोनों को त्यागकर निर्मल हो अत्यन्त समता को प्राप्त हो जाता है।

२४७. आत्मतत्व

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ।।
यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः ।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ।।
एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो
घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च ।
सङ्कल्पविज्ञानमथाभिमानः
सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः ।।
अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनि–
रव्यक्त एको वयसा स आद्यः ।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति
बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद् वत् ।।
यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
पटो तथा तन्तुवितानसंस्थः ।
य एष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ।।

श्रीमद्भागवत ११/१२/१७-२१

अर्थ – यह प्रत्यक्ष परमेश्वर शरीर के आधार आदि चक्रों में स्पष्ट मालूम पड़ता है; क्योंकि यह नादयुक्त प्राण के साथ प्रथम आधार चक्र में प्रविष्ट होता है तब 'परा वाणी' कहलाता है । वह जब मणिपुर चक्र में आता है तब 'पश्यंती वाणी' और विशुद्धि चक्र में आने पर 'मध्यमा वाणी' कहलाता है तथा मुख में आने पर 'वैखरी वाणी' के नाम से जाना जाता है ।

जिस प्रकार अग्नि लकड़ी के भीतर अस्पष्ट उष्णता रूप से रहा हुआ है, उसी लकड़ी में मन्थन करने पर वायु की सहायता से स्फुलिंगादि रूप से उत्पन्न होता है। फिर वृद्धिंगत होने पर घृतादि हुतद्रव्य से और भी वृद्धि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी–ये चार मेरे ही स्वरूप हैं।

इसी प्रकार हाथ, पैर, गुदा, लिंग, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वा-इन्द्रिय, नेत्र, त्वचा, श्रवणेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और प्रधान की वृत्तियाँ क्रमशः कर्म, गमन, मलत्याग, सूंघना, स्वाद लेना, देखना, स्पर्श करना, सुनना, संकल्प, विज्ञान, अभिमान, सूत्र-समष्टि प्राण–यह सब तथा अन्य प्रपंच मेरा ही स्वरूप हैं।

यह ईश्वर प्रथम सृष्टि आदि में अव्यक्त ही थे। कालक्रम से वाणी आदि इन्द्रियों के रूप में विभक्त शक्ति वाले हुए, अथवा माया के आश्लेष से अनेक रूप बने। वास्तव में वे एक, आदि, तीनों गुणों के आश्रय और लोक के कारण हैं। तथापि, एक ही बीज अपने उत्पत्तिस्थान–खेत को प्राप्त कर अनेक रूप होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अनेक रूप लगता है।

जिस प्रकार वस्त्र तन्तुओं के विस्तार में रहकर उनमें ओतप्रोत है और उनसे भिन्न नहीं है उसी प्रकार वह जगत ईश्वर में ओतप्रोत है और उससे भिन्न नहीं है। समष्टि-व्यष्टिरूप जगत-वृक्ष अविद्या के कारण आत्मा में आरोपित होकर पुराना, अनादिकालीन एवं कर्मशील है और पुष्परूप भोग तथा फलरूप मोक्ष अथवा कर्म एवं फल को उत्पन्न करता है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व–
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामां-
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ।।

कठोपनिषद् ३/१/८-१०

अर्थ – (यह आत्मा) न नेत्र से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से ही । ज्ञान के प्रसाद से पुरुष विशुद्धचित्त हो जाता है और तभी वह ध्यान करने पर उस निष्कल आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करता है ।

वह सूक्ष्म आत्मा, जिस (शरीर) में पाँच प्रकार से प्राण प्रविष्ट है उस शरीर के भीतर ही विशुद्ध विज्ञान द्वारा जानने योग्य है । उससे इन्द्रियों प्रजावर्ग के सम्पूर्ण चित्त व्याप्त हैं, जिसके शुद्ध हो जाने पर वह आत्म-तत्त्वरूप से प्रकाशित होने लगता है ।

वह विशुद्धचित्त आत्मवेत्ता मन से जिस-जिस लोक की भावना करता है और जिन-जिन भोगों को चाहता है वह उसी-उसी लोक और उन्हीं-उन्हीं भोगों को प्राप्त कर लेता है । इसलिए ऐश्वर्य की इच्छा करने वाला पुरुष आत्मज्ञानी की पूजा करे ।

२४८. आत्मा के गुणधर्म

एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो
घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च ।
सङ्कल्पविज्ञानमथाभिमानः
सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः ।।

श्रीमद्भागवत ११/१२/१९

अर्थ – जिस प्रकार वाणी की वृत्ति मेरा स्वरूप है उसी प्रकार हाथ की वृत्ति कर्म, पैरों की वृत्ति गमन, गुदा-लिंग की वृत्ति मल त्याग, घ्राणेन्द्रिय

की वृत्ति सूँघना, जिह्वा-इन्द्रिय की वृत्ति स्वाद लेना, नेत्र की वृत्ति दर्शन, त्वचा की वृत्ति स्पर्श, श्रवणेन्द्रिय की वृत्ति श्रवण, मन की वृत्ति संकल्प, बुद्धि तथा चित्त की वृत्ति विज्ञान, अहंकार की वृत्ति अभिमान एवं प्रधान की वृत्ति सूत्र-समष्टि प्राण और तीन गुणों के विकाररूप इन्द्रियवर्ग, देववर्ग तथा पृथ्वी आदि पंच महाभूत—यह सब मेरा ही स्वरूप है ।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ।

यः प्राणे तिष्ठन् प्राणान्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।

यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरो यं वाङ न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।

यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्नवेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यभृतः ।।

बृहदारण्यक ३/७/१५-१८

अर्थ—जो समस्त भूतों में स्थित रहने वाला समस्त भूतों के भीतर है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिसके शरीर हैं और जो भीतर रहकर समस्त भूतों का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । यह अधिभूत दर्शन है । अब अध्यात्म दर्शन कहा जाता है ।

जो प्राण में रहने वाला प्राण के भीतर है, जिसे प्राण नहीं जानता, प्राण जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर प्राण का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

जो वाणी में रहने वाला वाणी के भीतर है, जिसे वाणी नहीं जानती, वाणी जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वाणी का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

जो नेत्र में रहने वाला नेत्र के भीतर है, जिसे नेत्र नहीं जानता, नेत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर नेत्र का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

२४९. परमसुख-निरपेक्षता

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ।।

श्रीमद्भागवत ११/१४/१७

अर्थ – किसी चीज का परिग्रह न करने वाले, मुझमें प्रेमयुक्त मन वाले, शान्त, अभिमानरहित, समग्र जीवों पर प्रेमवाले और विषयों से अलिप्त मनवाले मेरे भक्त जिस सुख का अनुभव करते हैं, उसे तो वे ही जान सकते हैं, प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि मोक्ष की भी इच्छा न रखने वालों से ही यह सुख प्राप्त हो सकता है। (अथवा निरपेक्षता रूप सुख को मेरे उपर्युक्त लक्षणों वाले भक्त ही जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता) ।

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।।

मुण्डक १/२/११

अर्थ – जो शान्त और विद्वान् लोग वन में रहकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं वे पापरहित होकर सूर्यद्वार से वहाँ जाते हैं जहाँ यह अमृत और अव्यय रूप पुरुष रहता है ।

कामान्यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्वि–
हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।।

मुण्डक ३/२/२

अर्थ – (भोगों का गुणों का) चिन्तन करने वाला जो पुरुष भोगों की इच्छा करता है वह उन कामनाओं के योग से तहाँ-तहाँ (उनकी प्राप्ति के स्थानों में) उत्पन्न होता रहता है । परन्तु जिसकी कामनाएँ पूर्ण हो गई हैं उस कृतकृत्य पुरुष की तो सभी कामनाएँ इस लोक में ही लीन हो जाती है ।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे–
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

मुण्डक ३/२/८

अर्थ – जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूप को त्यागकर समुद्र में अस्त हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है ।

२५०. योगासन से प्राणशोधन

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ।।
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ।।

श्रीमद्भागवत ११/१४/३२-३३

अर्थ – न अधिक ऊँचे और न अधिक नीचे, कम्बल आदि के आसन पर, स्वयं को सुखप्रद हो इस प्रकार सीधा शरीर रखकर बैठें । दोनों हाथ अपने अंक में रखें और अपनी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर रखें । इसके बाद पूरक, कुंभक और रेचक–इस सीधे क्रम से और रेचक, पूरक तथा कुंभक–इस उलटे क्रम से प्राण के मार्ग को शुद्ध करें अर्थात् प्राणायाम करें । इस तरह इन्द्रियों को जीतकर धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाते जायँ ।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।
समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।।

श्वेताश्वतर २/८/१०

अर्थ – (शिर, ग्रीवा और वक्षःस्थल–इन) तीनों को ऊँचे रखते हुए शरीर को सीधा रख मन के द्वारा इन्द्रियों को हृदय में संनिविष्ट कर विद्वान ॐकाररूप नौका के द्वारा सम्पूर्ण भयानक जल प्रवाहों को पार कर जाता है ।

जो समतल, पवित्र, शर्करा, अग्नि और बालू से रहित तथा शब्द, जल और आश्रयादि से भी शून्य हो, मन के अनुकूल हो एवं नेत्रों को पीड़ा देनेवाला न हो ऐसे गुहा आदि वायुशून्य स्थान में मन को युक्त करें।

विशेष के लिए ऋग्वेद १०/७१/८

२५१. हृदय-कमल में भगवान का ध्यान

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ।।

श्रीमद्भागवत ११/१४/३६

अर्थ – शरीर के अन्दर ऊँचे की ओर नाल वाला और नीचे की ओर मुखवाला हृदय-कमल है। वह नीचे नाल वाला, ऊँचे मुखवाला, विकसित आठ पँखुड़ियों वाला और मध्य में कलीवाला है–इस प्रकार उस हृदय-कमल का चिंतन करे ।

अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ।
हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं
विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ।।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ।।
आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः ।।

कैवल्योपनिषद् ५/६/११

अर्थ – संन्यासाश्रम ग्रहण करने वाला संन्यासी भक्तिपूर्वक सर्व इन्द्रियों को संयमित कर, गुरु को प्रणाम कर, अपने हृदयरूपी कमल में दोष-रहित, शुद्ध, स्वच्छ, शोकरहित, अचिन्त्य, अनन्त रूपवाले, अव्यक्त, शान्त, अमृत स्वरूप, आदि-मध्य-अन्त रहित, चिदानन्द, अद्‌भुत स्वरूप वाले, शान्त परमात्मा का ध्यान करें ।

ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा को अरणी मानकर, ॐकार रूप दूसरी अरणी रखकर, ज्ञान-मंथन के अभ्यास से पापों को जलाकर निष्पाप बनता है ।

२५२. जहाँ मन वहाँ आत्मा

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि ।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक् ।।
मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना ।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः ।।

श्रीमद्‌भागवत ११/१५/२०-२१

अर्थ – सूर्य में चक्षु को तथा सूर्य को चक्षु में लगाकर उन दोनों के संयोग में मन से मेरा ध्यान करने वाला योगी सूक्ष्मद्रष्टा बनकर दूर से जगत को देख सकता है अर्थात् 'दूरदर्शन' नामक सिद्धि प्राप्त करता है।

मन और शरीर–इन दोनों को उनका अनुसरण करने वाले वायु के साथ मुझ में लगाकर मेरी धारणा करने से जहाँ मन जाता है वहाँ देह भी जा सकता है अर्थात् 'मनोजव' नामक सिद्धि प्राप्त होती है।

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

श्वेताश्वतर २/१२-१३

अर्थ – पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की अभिव्यक्ति होने पर अर्थात् पंचभूतमय योगगुणों का अनुभव होने पर जिसे योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो गया है उस योगी को न रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न उसकी असामयिक मृत्यु ही होती है।

शरीर का हल्कापन, नीरोगता, विषयासक्ति की निवृत्ति, शारीरिक कान्ति की उज्ज्वलता, स्वर की मधुरता, सुगन्ध और मलमूत्र की न्यूनता– इन सबको योग की पहली सिद्धि कहते हैं।

विशेष के लिये देखिये––

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति।

छान्दोग्योपनिषद् ७/६/२

२५३. धारणा का स्वरूप और महत्ता

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ।।

श्रीमद्‌भागवत ११/१५/१

अर्थ – इन्द्रियों तथा प्राणवायु को जीतने वाले और मुझमें चित्त स्थापित करने वाले स्थिर मनवाले योगी के पास सिद्धियाँ हाजिर होती हैं ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । (वि. पा. १) योगसूत्र

अर्थ – मन का एक ही स्थान पर स्थिर होना वही धारणा है ।

२५४. अणिमा

भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः ।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम ।।

श्रीमद्‌भागवत ११/१५/१०

अर्थ – जो योगी शब्द, स्पर्श आदि पांच सूक्ष्म भूत रूप उपाधिवाले मुझमें उन-उन सूक्ष्म भूतों के आकार वाले मन की धारणा करता है, वह सूक्ष्म भूतरूप तन्मात्राओं का उपासक मेरी 'अणिमा' सिद्धि प्राप्त करता है ।

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ।

योगसूत्र वि. पा. २१

अर्थ – शरीर के सम्पूर्ण संयम से सब शक्तियाँ स्तम्भित होती हैं । आँखों में प्रकाश का प्रवेश न होने से अन्तर्धान शक्ति प्राप्त होती है ।

२५५. क्षुधा-तृषा-निवृत्ति

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि ।
धारयञ्छ्वेततां याति षडूर्मिरहितो नरः ।।

श्रीमद्भागवत ११/१५/१८

अर्थ – श्वेत द्वीप के स्वामी और शुद्ध धर्ममय मुझ में चित्त की धारणा करने वाला पुरुष क्षुधा, तृषा आदि छः ऊर्मियों से रहित होकर शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है अर्थात् 'अनूर्मिमत्व' नामक सिद्धि प्राप्त करता है ।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ।

योगसूत्र वि. पा. ३०

अर्थ – कंठ में श्वास-रोधन करने से क्षुधा और तृषा की निवृत्ति होती है ।

(२५६. दूरश्रवण सिद्धि

मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा घोषमुद्वहन् ।
तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ ।।

योगसूत्र श्रीमद्भागवत ११/१५/१९

अर्थ – आकाशस्वरूप समष्टिप्राणरूप मुझ में मन से नाद का चिन्तन करने वाला जीव आकाश का ज्ञाता बनकर, वहाँ रही हुई प्राणियों की अनेक प्रकार की वाणी सुनता है, अर्थात् 'दूर-श्रवण' नामक सिद्धि प्राप्त करता है ।

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ।

योगसूत्र वि. पा. ४१

अर्थ – कान और आकाश के सम्बन्ध के संयम से कान दिव्य बनते हैं और 'दूर श्रवण' नामक सिद्धि प्राप्त होती है ।

२५७. दूरदर्शन

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि ।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक् ।।

श्रीमद्भागवत ११/१५/२०

अर्थ – सूर्य में चक्षु को और सूर्य को चक्षु में लगाकर उन दोनों के संयोग में मन से मेरा ध्यान करने वाला योगी सूक्ष्मद्रष्टा बनकर दूर से जगत को देख सकता है । वह 'दूर-दर्शन' नामक सिद्धि प्राप्त करता है ।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।

योगसूत्र वि. पा. २६

अर्थ – सूर्य समक्ष के संयम से जगत में घटित घटनाओं का ज्ञान होता है ।

२५८. दूरगमन

मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना ।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः ।।

श्रीमद्भागवत ११/१५/२१

अर्थ – मन और शरीर–इन दोनों को, उनका अनुसरण करने वाले वायु के साथ मुझमें लगाकर मेरी धारणा करने से, जहाँ मन जाता है वहाँ देह भी जा सकता है अर्थात् 'मनोजव' नामक सिद्धि प्राप्त होती है ।

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ।

योगसूत्र वि. पा. ४२

अर्थ – शरीरस्थ आकाश के संयम से शरीर रूई जैसा हल्का हो जाता है, परिणामतः 'आकाशगमन' की सिद्धि प्राप्त होती है ।

२५९. ईप्सित रूप-प्राप्ति

यदा मन उपादाय यद् यद् रूपं बुभूषति।
तत्तद् भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः।।

श्रीमद्भागवत ११/१५/२२

अर्थ – मन को मूल कारण बनाकर योगी जो-जो देव आदि रूप बनना चाहता है उस-उस मनोवांछित रूप को प्राप्त कर सकता है; क्योंकि (अचिन्त्य शक्ति वाले और भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक आकार वाले) मुझमें धारणा का बल ही योगी को ईप्सित रूप प्राप्त होने में कारणभूत बनता है। इस सिद्धि को 'कामरूप' कहते हैं।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्।

योगसूत्र वि. पा. ४६

अर्थ – रूप, सुन्दरता, बल और वज्र जैसी सहनशक्ति काया की सम्पत्ति है।

२६०. परकाया-प्रवेश

परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत्।
पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत्।।

श्रीमद्भागवत ११/१५/२३

अर्थ – अन्य के शरीर में प्रवेश करने वाले सिद्ध योगी को परकीय शरीर में अपने आत्मा का चिंतन करना चाहिए। इसके बाद स्थूल शरीर का त्याग कर, प्राण-प्रधान लिंग शरीर की उपाधि वाला-वायु रूप बनकर, (एक फूल से दूसरे फूल में अनायास प्रवेश करने वाले) भौंरे की तरह, उस वायुरूप मार्ग से वह परकीय शरीर में प्रवेश करता है। यह 'परकाय प्रवेश' नामक सिद्धि है।

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।

योगसूत्र वि. पा. ३८

अर्थ – बंधन के कारण दूर करने से एवं उसकी प्रचार भावना से अन्य के शरीर में प्रवेश शक्य बनता है।

२६१. सिद्धि के साधन और कारण

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः।।

श्रीमद्भागवत ११/१५/१

अर्थ – इन्द्रियों तथा प्राणवायु को जीतने वाले और मुझमें चित्त की स्थापना करने वाले स्थिर मनवाले योगी के पास सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं ।

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।

योग सूत्र ४/१

अर्थ – सिद्धि प्राप्त होने के पाँच कारण हैं––(१) जन्म, (२) औषधि-सेवन, (३) मंत्र, (४) तप और (५) समाधि ।

२६२. यम और नियम

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्।।
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्।।

श्रीमद्भागवत ११/१९/३३-३४

अर्थ – अहिंसा, सत्य, अस्तेय (मन से भी परधन की चोरी का विचार न करना), असंग, लज्जा, असंचय, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय–ये बारह 'यम' हैं ।

शौच (बाह्य-आभ्यन्तर पवित्रता), जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथि-सत्कार, मेरी पूजा, तीर्थाटन, परोपकार, सन्तोष और आचार्य-सेवा–ये बारह 'नियम' हैं ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

योगसूत्र २/३०

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

योगसूत्र २/३२

अर्थ – यम पाँच हैं––(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य और (५) पराई वस्तु का अस्वीकार ।

नियम पाँच हैं––(१) पवित्रता, (२) सन्तोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय तथा (५) प्रभु में एकाग्रता ।

२६३. यज्ञ ही विष्णु है

त्रैतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी ।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ।।

श्रीमद्भागवत ११/१७/१२

अर्थ – त्रेतायुग के आरम्भ में वैराज स्वरूप मेरे हृदय से निःश्वास के निमित्त वेदविद्या प्रकट हुई और उसमें से होता, अध्वर्यु तथा उद्गाता–– इस प्रकार तीन स्वरूप वाला मैं ही 'यज्ञ' रूप बना ।

यज्ञो वै विष्णुः । (श. ब्रा.)

यज्ञ ही भगवान विष्णु है ।

२६४ . आचार धर्म

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः ।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः ।।
मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान् दधत् ।।

स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः ।
नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि ॥
रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम् ।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत् ॥
अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्छुचिः ।
समाहित उपासीत संध्ये च यतवाग् जपन् ॥
आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥
सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत् ।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः ॥
शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत् ।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः ॥
एवं वृत्तो गुरुकुले वसेद् भोगविवर्जितः ।
विद्या समाप्यते यावद् बिभ्रद् व्रतमखण्डितम् ॥
यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम् ।
गुरवे विन्यसेद् देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः ॥
अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम् ।
अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः ॥
स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम् ।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ॥
शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपासनमार्जवम् ।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासंभाष्यवर्जनम् ॥
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः ॥
एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन् ।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः ॥

श्रीमद्भागवत ११/१७/२२-३६

अर्थ – ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारी गर्भाधानादि संस्कार के क्रम से यज्ञोपवीत धारण रूप दूसरा जन्म प्राप्त कर, जितेन्द्रिय बनकर गुरु के घर निवास करे और वेदाध्ययन करे। वह मेखला, मृगचर्म, दंड, रुद्राक्षमाला, यज्ञोपवीत और दर्भ धारण करे, सिर पर जटा धारण करे। दाँतों व वस्त्रों को धोकर साफ न करे और आसन को रंगे नहीं। ब्रह्मचारी को स्नान, भोजन तथा होम करते समय एवं जप तथा मल-मूत्र का त्याग करते समय मौन धारण करे। नख न काटे तथा बगल या गुह्य भाग अथवा किसी भी भाग के बाल न काटे। ब्रह्मचारी कभी वीर्यस्खलन न होने दे। यदि कभी अपने आप स्खलन हो जाय तो स्नान, प्राणायाम और गायत्री जप करे। ब्रह्मचारी पवित्र और एकाग्रचित्त होकर अग्नि, सूर्य, गाय, ब्राह्मण, गुरुजन तथा देवों की सेवा करे। मौन रहकर जप करते हुए दोनों सन्ध्याओं की उपासना करे। आचार्य को मेरा (ईश्वर का) स्वरूप जानें, 'यह एक सामान्य व्यक्ति है' यह समझकर उनका अपमान न करें। गुरु के गुणों पर दोषों का आरोप नहीं करना चाहिए, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय है। प्रात: तथा सायं भिक्षा लाकर गुरु को सौंप दे और गुरु की अनुज्ञा से उसका ब्रह्मचारी शिष्य सावधानी से उपयोग करे। गुरुसेवा करने वाला ब्रह्मचारी सदा सामान्य सेवक की तरह गुरु के पास उपस्थित रहे और गुरु कहीं जाय तो उनका अनुसरण करे। गुरु के सो जाने पर अप्रमादी बनकर उनके पास सोए, गुरु के बैठने पर उनके पास हाथ जोड़कर बैठे और गुरु खड़े हों तब उनके पास दो हाथ जोड़कर खड़ा रहे। इस प्रकार जब तक विद्या समाप्त न हो तब तक सब भोग छोड़कर, अस्खलित ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए गुरु के घर पर रहे। (इस प्रकार व्रत-पालन करते हुए) ब्रह्मचारी महर्लोक और वहाँ से ब्रह्मलोक में जाने की इच्छा रखता हो तो वह नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर अधिक स्वाध्याय के लिए एवं गुरु की पढ़ाई का ऋण चुकाने के लिए अपना देह गुरु को समर्पित करे। ब्रह्मतेज वाले निष्पाप ब्रह्मचारी को अग्नि, गुरु, सर्वप्राणी तथा स्वयं में रहने वाले मेरी (परब्रह्म की) अभेद बुद्धि से उपासना करनी चाहिए। गृहस्थ के सिवा अन्य आश्रमी स्त्रियों के दर्शन, स्पर्श, भाषण और हास्य आदि का त्याग करे तथा मैथुन करते हुए प्राणियों के ऊपर दृष्टिपात तक न करे।

शौच, आचमन, स्नान, संध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवा, जप, अस्पृश्यता का त्याग, अभक्ष्य का त्याग, न बोलने योग्य का त्याग, सर्व पदार्थों में मेरा भाव एवं मन वाणी तथा शरीर का संयम–यह सब आश्रमों के नियम–सामान्य धर्म हैं । इस प्रकार नैष्ठिक महाव्रत (ब्रह्मचर्य) का पालन करने वाला निष्काम ब्राह्मण अग्नि के समान तेजस्वी बनता है और तीव्र तपश्चर्या से अन्त:करण का विकार जलाकर मेरा भक्त वनता है ।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि ।।
तैत्तिरीयोपनिषद १/११/१-२

अर्थ – वेदाध्ययन कराने के अनन्तर आचार्य शिष्य को उपदेश देता है–सत्य बोल । धर्म का आचरण कर । स्वाध्याय में प्रमाद न कर । आचार्य के लिए अभीष्ट धन लाकर (उसकी आज्ञा से स्त्री-परिग्रह कर और) सन्तान-परम्परा का छेदन न कर । सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए । धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए । कुशल (आत्मरक्षा में उपयोगी) कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए । ऐश्वर्य देने वाले मांगलिक कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिए । स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

२६५. समावर्तन

अथानन्तरमावेक्ष्यन् यथा जिज्ञासितागमः ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद् गुर्वनुमोदितः ।।
श्रीमद्भागवत ११/१७/३७

अर्थ – यदि गुरुगृह में निवास करने वाले ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की इच्छा हो तो, वेदों के अर्थों का अच्छी तरह विचार करने

वाला वह ब्रह्मचारी गुरु को दक्षिणा देकर, उनकी अनुमति लेकर स्नान करे। अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत की समाप्ति के लिए तैलादि का मर्दन कर समावर्तन संस्कार करे।

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो ३ मनसा देवयन्तः।।
ऋग्वेद ३/८/४

अर्थ – तरुण, उत्तम वस्त्रों से लिपटा हुआ यह आ गया है। वह उत्पन्न होते हुए बहुत उत्तम दिखलाई देता है। देवों के समान बनने की इच्छा करने वाले बुद्धिमान तथा उत्तम अध्ययनशील ज्ञानीजन मन से उसे उन्नत करते हैं।

२६६. यज्ञ के स्वरूप

अग्निहोत्र च दर्शश्च पूर्णमासश्च पूर्ववत्।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः।।
श्रीमद्भागवत ११/१८/८

अर्थ – अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास तथा चातुर्मास्य यज्ञ गृहस्थों की तरह वानप्रस्थ को भी करने चाहिए, ऐसा वेदवादियों ने कहा है।

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास-
मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-
मासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति।।
मुण्डकोपनिषद् १/२/३

अर्थ – जिसका अग्निहोत्र दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य और आग्रयण– इन कर्मों से रहित, अतिथि-पूजन से वर्जित, यथासमय किये जाने वाले हवन और वैश्वदेव से रहित अथवा अविधिपूर्वक हवन किया होता है, उसकी मानो सात पीढियों का वह नाश कर देता है।

२६७. असंयमी की गति

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ।।
सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा ।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ।।

श्रीमद्भागवत ११/१८/४०-४१

अर्थ – जिसने छः इन्द्रियों के वर्ग को नहीं जीता है, जिसकी बुद्धि (विषयों में) अत्यन्त आसक्त है।और जो ज्ञान तथा वैराग्य से रहित है वह (संन्यास लेकर) संन्यास पर केवल अपनी आजीविका ही करता है । ऐसा धर्मघातक संन्यासी यज्ञ करने योग्य देवों को और स्वयं के भीतर रहे हुए आत्मारूप मुझे ठगता है । अतः अपक्व कषायवाला वह संन्यासी इस लोक और परलोक से भ्रष्ट होता है ।

एष वाजी हितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः ।
अव्यं वारं वि धावति ।। सामवेद उ. ५/२/५-१

अर्थ – वाक्, पाणि आदि कर्मेन्द्रियों से चलने वाला, चक्षुरादि नेताओं से धारण या पालन-पोषण किया हुआ, सब इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला, अन्तःकरण अर्थात् मानसिक वृत्तियों के पीछे चलने वाला यह मूढ पुरुष सर्वदा रहने वाले गड्ढलिका-प्रवाह की भाँति बार-बार अथवा यथाक्रम (मरने के अनन्तर जन्म, जन्म के अनन्तर मरण, इस क्रम को) अथवा संसार में जन्म-मरण रूपी युद्ध की ओर विविध प्रकार से दौड़ता रहता है ।

२६८. ज्ञान-विज्ञान का स्वरूप

नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै ।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ।।
एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद् भावानं त्रिगुणात्मनाम् ।।

श्रीमद्भागवत ११/१९/१४-१५

अर्थ – प्रकृति, पुरुष, महत् तत्त्व, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और तीन गुण–इन अट्ठाईस तत्त्वों को जो व्यक्ति ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त के सर्व कार्यों में व्याप्त और उनमें भी एक परमात्म तत्त्व को व्याप्त देखता है और यह जानता है कि कार्य कारणात्मक यह जगत केवल परमकारण परमात्मरूप ही है तथा उस परमात्मा से कुछ भी भिन्न नहीं देखता, वही 'ज्ञान' है ।

ज्ञानावस्था में केवल एक परमात्मा से व्याप्त और केवल एक परमात्मरूप सर्व पदार्थ, जिन्हें प्रथम देखा है, उन्हीं को उस प्रकार से न देखकर केवल एक ब्रह्मस्वरूप को ही देखना यही विज्ञान है ।

विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च ।
विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ।।

तै. उ. २/५

अर्थ – विज्ञान यथार्थानुभूतज्ञान को और वेद के कर्मानुष्ठान को विस्तृत करता है । सब देवता विज्ञानस्वरूप ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना करते हैं ।

२६९. दान, तप और समदर्शन

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ।।

श्रीमद्भागवत ११/१९/३७

अर्थ – किसी भी प्राणी के द्रोह का त्याग करना-यही श्रेष्ठ दान है। (मात्र धन का दान दान नहीं है।) कामना का त्याग ही तप है। (मात्र कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि तप नहीं हैं।) वासना पर विजय प्राप्त करना ही शौर्य है। (मात्र पराक्रम शौर्य नहीं है।) ब्रह्म का विचार ही सत्य है। (मात्र सत्य बोलना ही सत्य नहीं है।)

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः ।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज् जीवयाजं यजने सोपमा दिवः ।।

ऋग्वेद १/३१/१५

अर्थ – दान सदा प्रयत्नशील मनुष्य को ही देना चाहिए, ताकि किया हुआ दान सत्कर्म में लगाया जावे। घरों में सदा अतिथि का सत्कार होना चाहिए और यज्ञ भी प्रतिदिन करना चाहिए। ऐसे घर स्वर्ग के समान होते हैं और हमेशा देवों द्वारा सुरक्षित रहते हैं।

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमात्यग्नेः।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः।।

ऋग्वेद ४/१/७

अर्थ – स्वप्रकाश से प्रकाशमान, ज्योतिःस्वरूप इस परब्रह्म परमात्मा के तीन–ॐ, तत्, सत्'–नाम परमोत्कृष्ट तथा प्रसिद्ध, सत्यस्वरूप अर्थात् सदा स्थिर रहने वाले, जगदुत्पादक और चाहने योग्य हैं। हृदयाकाश के भीतर, अपने तेज से परिवेष्टित, स्वयं शुद्ध स्वरूप तथा 'ॐ तत् सद् ब्रह्म' इतना उच्चारण करने से मनुष्यों के शरीर, मन, वाणी का शोधक, बलस्वरूप अतएव स्वयं प्रकाशित होता हुआ सारे ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा हमारे हृदयाकाश में बिराजे। इतना होने पर ही हम समद्रष्टा बन सकते हैं।

२७०. योग की व्याख्या

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन् दम्यस्येवार्वतो मुहुः।।

श्रीमद्भागवत ११/२०/२१

अर्थ – अशिक्षित अश्व को शिक्षित करना हो तो, वह मेरी इच्छा के अनुसार चलना चाहिए, यह विचार मन में रखकर अश्वारोही प्रथम अश्व को उसकी इच्छा के अनुसार चलने देता है परन्तु उसकी लगाम तो अपने हाथ में ही रखता है और ध्यानपूर्वक उसके पीछे-पीछे चलता है, उस समय वह बेदरकारी नहीं रखता, उसी प्रकार योगी मन को वश करे। मन को वश में करने का यही श्रेष्ठ उपाय शास्त्रों में कहा गया है।

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः ॥

श्रीमद्भागवत ११/२३/४६

अर्थ – दान, नित्य-नैमित्तिक स्वधर्म, नियम, यम, शास्त्राध्ययन, कर्म, एकादशी वगैरह उत्तम व्रत-इन सबका फल मन वश में होना ही है, क्योंकि मन को वश में करना ही उत्तम ज्ञान है।

(१) **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १, २ ॥**

योगसूत्र १/२

अर्थ – चित्तवृत्ति के संयम को 'योग' कहते हैं।

(२) **प्रपंचविस्मृतिपूर्विका कृष्णासक्तिर्निरोधः।**

अर्थ – संसार के विस्मरणपूर्वक केवल श्रीकृष्ण में अनुराग ही निरोध-योग है।

२७१. शब्दब्रह्म का स्वरूप

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥

श्रीमद्भागवत ११/२१/३६

अर्थ – शब्दब्रह्म वेद को जानना बड़ा ही मुश्किल है। वह प्राण, इन्द्रिय तथा मनोमय है अर्थात् परा, पश्यंती और मध्यमा-यह शब्दब्रह्म का सूक्ष्म स्वरूप है। वह अनंतपार है। काल या देश से उसका नाप नहीं निकल सकता। वह गंभीर और अर्थ गूढ़ है। जिस प्रकार समुद्र में प्रवेश करना मुश्किल है उसी प्रकार वेद में भी बुद्धि का प्रवेश मुश्किल से होता है।

(१) चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि।
(२) तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
(३) गुहासु निहिता त्रीणि नेंगयन्ति।
(४) तुरीयं वाचं मनुष्या वदन्ति।

गणेशाथर्वशिरस्

अर्थ – (१) वाणी से परिमित शब्दों के वाक्य-स्वरूप चार हैं। (२) उसे विद्वान तथा ज्ञानी ब्राह्मण ही समझ सकते हैं। (३) इनमें से प्रथम तीन हृदय-गुहा में रहने के कारण बाहर चिह्नित नहीं होते। केवल (४) लोग जो बोलते हैं वह चौथी वैखरी वाणी है।

२७२. पुरुरवा (ऐल)-उर्वशी की कथा-गाथा

श्रीमद्भागवत ११/२६/५/३५, ९/१४/३४
ऋग्वेद १०/९५ सूक्त

२७३. (अ) तीन महाविद्याएँ

स्वर्णधर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः।।

श्रीमद्भागवत ११/२७/३१

अर्थ – श्री भगवान को स्नान कराते समय स्वर्णधर्म, अनुवाक, महापुरुष-विद्या, पुरुष सूक्त और और राजन तथा रौहिण आदि साम के मंत्र आरती के समय पर बोलने चाहिए।

(१) स्वर्ण धर्मानुवाक–सुवर्णधर्मं परिवेदनेन-इत्यादि स्वर्णधर्म अनुवाक है।

(२) महापुरुष विद्या – जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु महापुरुष पूर्वज।।

– ये १६ श्लोक महापुरुष विद्या कहलाते हैं।

(३) पुरुषसूक्त – 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि मंत्र (यजुर्वेद, अध्याय ३१, मंत्र १ से १६) पुरुषसूक्त कहलाते हैं।

(४) साम नीराजन – साम. पू. १-४. १-३-६

२७४. जगत की उत्पत्ति और विकास

(सांख्य दृष्टि)

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम्।
यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम्॥
आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे॥
तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत्॥
तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते॥
तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च॥
तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः।
ततो विकुर्वतो जातोऽहंकारो यो विमोहनः॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत्।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः॥
अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च।
तैजसाद् देवता आसन्नेकादश च वैकृतात्॥
मया संचोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम्॥
तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ।
मम नाभ्यामभूत् पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः॥

सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् ।
लोकान् सपालान् विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा ।।
देवानामोक आसीत् स्वर्भूतानां च भुवः पदम् ।
मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात् परम् ।।
अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत् प्रभुः ।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वा कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ।।
योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः ।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः ।।
मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिद जगत् ।
गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति ।।

श्रीमद्भागवत ११/२४/१–१५

श्रीभगवान बोले – अब मैं तुम्हें कपिलादि पूर्वाचार्यों द्वारा निश्चित सांख्यशास्त्र बताता हूँ। उसको जानकर पुरुष भेद के कारण सुखदुखादि भ्रम का तत्काल त्याग करता है। युगों पहले (प्रलय काल में) द्रष्टा और दृश्य का अभाव होने से भेद ही न था, किन्तु सत्ययुग में तथा अन्य युग में भी जो मनुष्य विवेकशील बनता है उसकी दृष्टि में भेद मालूम नहीं पड़ता। इस प्रकार ब्रह्म केवल एक ही गुणों की विषमता से रहित है, जाति-आदि भेद से शून्य है, वाणी तथा मन का अविषय है और सत्यस्वरूप है। वही ब्रह्म माया के फलस्वरूप द्रष्टा और दृश्य–इन दो प्रकारों में बना। इनमें जो दृश्य है वह कार्यकारणरूप प्रकृति है और जो द्रष्टा है वह पुरुष कहलाता है। मैंने (परमेश्वरने) अपनी ही प्रकृति की ओर दृष्टि करने रूप पुरुषावस्था द्वारा प्रकृति को विकृत किया, जिससे सत्त्व, रजस् और तमस्-ये तीन गुण हुए। उन गुणों से क्रियाशक्तिवाला महत् तत्त्व और उसमें से ज्ञानशक्तिवाला महत् तत्त्व उत्पन्न हुआ। यह महत्तत्त्व विकार को प्राप्त हुआ तब उसमें से जीवों को मोह उत्पन्न करने वाला वैकारिक, तैजस् और तामस्-तीन प्रकार का अहंकार हुआ। उसमें से वैकारिक से इन्द्रियों के ग्यारह देव और मन हुए, तैजस् से ग्यारह इन्द्रियों हुईं तथा तामस् से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध–ये पाँच तन्मात्राएँ हुईं। यह अहंकार चिदाभास से व्याप्त है अतः चित्अचित् रूप

एवं जीवों के लिए उपाधिरूप है। शब्दादि तन्मात्राओं के कारण तामस अहंकार से पांच महाभूत हुए। दस इन्द्रियाँ तैजस् अहंकार से हुई हैं और वैकृत अहंकार से उन इन्द्रियों के अधिष्ठायक ग्यारह देव और मन हुए। मुझसे प्रेरणा-प्राप्त यह सब पदार्थ एकत्रित होकर कार्य करने के लिए समर्थ हुए। उन्होंने मेरे निवासस्थान रूप उत्तम अण्डाकार उत्पन्न किया। पानी में रहे हुए उस अंडाकार में मैं नारायणस्वरूप में लीलाशरीर धारण करके रहा और मेरी नाभि में लोकों का कारण कमल उत्पन्न हुआ, जिसमें ब्रह्मा हुए। रजोगुण से युक्त और जगत के स्रष्टा ब्रह्मा ने मेरी कृपा से तपस्या करके भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक लोकपालसहित उत्पन्न किये। उसमें स्वर्गलोक देवों का, भुवर्लोक प्रेत-पिशाचादि भूतों का तथा भूर्लोक मनुष्यों का निवासस्थान बना। इन तीनों के ऊपर आये हुए महर्लोक आदि सिद्धों के स्थान बने। समर्थ ब्रह्मा ने पृथ्वी के नीचे अतलादि पातालों को असुरों तथा नागों का स्थान बनाया। त्रिगुणात्मक कर्मों की सब गतियाँ स्वर्ग, मृत्यु और पाताल में हैं। योग, तप तथा संन्यास की निर्मल गतियाँ महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक में एवं भक्तियोग की गति वैकुंठ है। मैं कालशक्तिरूप हूँ और कर्म के फल देनेवाला हूँ। उसके द्वारा कर्मों में जुड़ा हुआ यह जगत गुणों के प्रवाहरूप संसार में सत्यलोक तक उत्तम गतियों तथा स्थावर तक नीचे गतियों को प्राप्त होता है।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् संह ब्रह्मणा विपश्चितेति । तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः । आकाद् वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः । अयं दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ।

विशेष के लिये देखिये:—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान्। महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः। सांख्यसूत्र १–६१।

अर्थ – ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। उसके विषय में यह श्रुति कही गयी है–'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है।' जो पुरुष उसे बुद्धिरूप परम आकाश में निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूप से एक साथ ही सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है। उस इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न एवं रसमय ही है। उसका यह (शिर) ही शिर है, यह (दक्षिण बाहु) ही दक्षिण पक्ष है, यह (वाम बाहु) वाम पक्ष है, यह (शरीर का मध्यभाग) आत्मा है और यह (नीचे का भाग) पुच्छ प्रतिष्ठा है। उसके विषय में ही यह श्लोक है।

२७५. विश्व में प्रकृति और पुरुष एकात्मभाव में

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ।।

श्रीमद्भागवत ११/२८/१

अर्थ – समग्र जगत् को प्रकृति और पुरुष के साथ एकस्वरूप में देखनेवाले मनुष्य को अन्य लोगों के शांत, घोर आदि स्वभावों तथा कर्मों की प्रशंसा अथवा निंदा नहीं करनी चाहिए।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।

ईशोपनिषद् ६

अर्थ – जो संपूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है वह इस (सार्वात्म्य दर्शन) के कारण ही किसी से घृणा नहीं करता।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम्।

बृहदारण्यक ३/७/१५

अर्थ – जो समस्त भूतों में स्थित रहनेवाला समस्त भूतों के भीतर है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिसके शरीर हैं और जो भीतर रहकर समस्त भूतों का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूतदर्शन है।

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥

अथर्व १०/८/३३

अर्थ – जिसके पहले कोई नहीं है, यह देवता-प्रेरित वाणी है। ये वाणी यथायोग्य वर्णन करती हैं। बोलतीं-बोलतीं वे जहाँ पहुँचती हैं वह महान् ब्रह्म है, ऐसा कहते हैं।

ऋग्वेद १०/११४/५

२७६. श्रीकृष्ण का स्वधाम-गमन

(आसुर व्यामोह-लीला)

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

श्रीमद्भागवत ११/३१/६

अर्थ – धारणा तथा ध्यान के मांगलिक विषयरूप और जिसमें चारों ओर लोकों की स्थिति है ऐसे अपने शरीर को अग्नि की योगधारणा से, बिना जलाये ही, भगवान श्रीकृष्ण स्वधाम में पधारे।

स़ समुद्रो अपीच्यस्तुरोघामिव रोहति नियदासुयजुर्दधे।
समाया अर्चिना पदास्तृणान्नाकमारुहन्नभंतामन्यके समे॥

मंत्र भागवत म. का. १०

अर्थ – जिस समुद्र को भगवान् श्रीकृष्ण ने क्रीडा के लिए पुष्करिणी (तालाब) में रूपान्तरित कर दिया था, वह रमणीय एवं वेगवान् समुद्र मानो आकाश की ओर जा रहा है; क्योंकि इस समुद्र के जल में यज्ञेश्वर प्रभु ने अपने आपको स्थापित कर दिया है। वह भगवान् स्त्री-पुत्रादि रूप माया का त्याग कर अपने पूज्य पद से स्वर्ग को पधारे, जहाँ कोई दुष्ट शत्रु न हो।

२७७. सर्व संसार-धर्म के त्यागपूर्वक शरणागति से मोक्ष

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।

तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ।।

श्रीमद्भागवत ११/२९/३४

अर्थ – मनुष्य जब समग्र कर्मों का त्यागकर मुझे अपने आत्मा का अर्पण कर देता है तब उसे सर्वोत्कृष्ट बनाने की मुझे इच्छा होती है । उस मनुष्य को मैं जीव भाव से मुक्त करवाकर अमृतस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करा देता हूँ । वह मेरे साथ मिलकर मुझस्वरूप बन जाता है ।

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वर तव ।।

अथर्व ५/३०/८

तू भयभीत न हो । तू कभी नहीं मरेगा । मैं तुझे वृद्धावस्था तक रहनेवाला बनाता हूँ । तेरे अंगों में से शरीर के ज्वर तथा क्षयरोग को मैं बाहर निकाल देता हूँ ।

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः ।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते ।।

ऋग्वेद २/२३/५

अर्थ – हे ज्ञान के अधिष्ठाता देव ! अच्छी तरह पालन करनेवाले तुम जिसकी रक्षा करते हो, उससे सम्पूर्ण हिंसकों को तुम दूर करते हो । इसी प्रकार उसको पाप और बुरे कर्म दुःख नहीं देते । शत्रु भी कहीं से भी उसको कष्ट नहीं पहुँचाते और वंचक भी ठग नहीं सकते ।

द्वादशः स्कन्धः

(युगलक्षण)

२७८. सत्वगुण प्रधान सत्ययुग, भक्ति-ज्ञान प्रधान त्रेता, रजोगुण प्रधान द्वापर और तमोगुण प्रधान कलियुग

प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च ।
तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद् रुचिः ।।
यदा धर्मार्थकामेषु भक्तिर्भवति देहिनाम् ।
तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन् ।।
यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः ।
कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद् रजस्तमः ।।
यदा मायानृतं तन्द्रा निन्द्रा हिंसा विषादनम् ।
शोको मोहो भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः ।।

श्रीमद्भागवत १२/३/२७-३०

अर्थ – मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ जब सत्त्वगुण में अतिशय बरतती हैं तब सत्ययुग है, यह समझना चाहिए । उससे ज्ञान एवं तप में रुचि होती है ।

मनुष्य को जब धर्म, अर्थ तथा काम में प्रीति होती है, तब यह समझना चाहिए कि रजोगुण,के प्राधान्य वाला त्रेतायुग है ।

जब लोभ, असन्तोष, मान, दंभ, मत्सर और काम्य कर्मों के ऊपर प्रीति उत्पन्न होती है तब रजोगुण तथा तमोगुण के प्राधान्य वाला द्वापर युग समझना चाहिए ।

जब कपट, असत्य, आलस्य, निद्रा, हिंसा, दुःख, शोक, मोह, भय और दीनता दिखाई दे तब तमोगुण के प्राधान्यवाला कलियुग है, यह जानना चाहिए ।

सत्ययुग लक्षण ।

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते ।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ।।

अथर्व. ८/२/१

अर्थ – यह अमृत रस पीने का आरम्भ कर । वृद्धावस्था तक मेरा जीवनभोग अविच्छिन्न चलता रहे । तेरे प्राण और जीवन को पुनः तेरे अन्दर भरता हूँ । तू भोग और अज्ञान के पास मत जा । तू मृत्यु को प्राप्त न हो ।

त्रेता-द्वापर लक्षण ।

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः ।
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ।।

अथर्व. ६/३३/१

अर्थ – इस प्रभु के बल में ये अनेक लोक, यह वन अर्थात् पृथ्वी और यह स्वर्ग संयुक्त हुआ है । इतना इस प्रभु का अत्यन्त रमणीय सामर्थ्य है ।

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।
सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ।।

अथर्व. १०/७/४०

अर्थ – उसका अज्ञान दूर हो चुका है । वह पाप से दूर हो चुका है । जो तीन ज्योतियाँ हैं वे सब प्रजापति में हैं ।

न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः ।
नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति ।।

ऋग्वेद ३/५३/२३

अर्थ – वीर मनुष्य बाण या शस्त्रास्त्रों के दुःख को कुछ भी नहीं समझते । वे लोभी शत्रु को पशु मानकर जहाँ चाहे ले जाते हैं । वे बलवान के द्वारा निर्बल की हँसी नहीं उडवाते, तथा गधे के आगे घोड़े नहीं ले जाते ।

कलियुग लक्षण

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि ।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ।।

अथर्ववेद ८/१/१०

अर्थ – इस खराब मार्ग का अनुकरण मत करो । यह भयंकर मार्ग है । जिससे पहले नहीं जाने जाते थे उस विषय में मैं कहता हूँ । हे मनुष्य, यह अँधेरे का मार्ग है । उस मार्ग में मत जाओ । तुम्हारे लिए अन्यत्र भय है और यहाँ अभय है ।

२७९. हरि-कीर्तन से मुक्ति

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ।।

श्रीमद्भागवत १२/३/५२

अर्थ – सत्ययुग में श्रीविष्णु का ध्यान करने वाले को, त्रेतायुग में यज्ञों से श्रीविष्णु का यजन करने वाले को और द्वापर में श्रीविष्णु की सेवा करने से जो फल मिलता है, वही फल कलियुग में श्रीहरि का कीर्तन करने से मिलता है ।

य आनयत परावतः सुनीतो तर्वशं यदुम् ।
इन्द्रः स नो युवा सखा ।।

ऋग्वेद ६/४५/१

अर्थ – जो भक्त्यैश्वर्य सम्पन्न जीवात्मा शोभन साधननीति की रीति से हिंसक स्वभाव को या कामना अर्थात् कामसंग को कुमार्ग पर ले जाने वाली वृत्ति को या सब भूतों में वैर को दूर फेंक देता है अर्थात् वैर-कुसंगादि को अपने पास नहीं आने देता, वह भक्त्यैश्वर्य सम्पन्न भक्त मनुष्य परमात्म-भक्ति में संलग्न होने से नित्य तरुण मुझ परमात्मा का सखा, मित्र अर्थात् समान स्थान में रहने वाला हो जाता है । उसे मेरा दर्शन होता है और वही मुक्त होता है ।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।

मुण्डकोपनिषद् ३/१/३

विशेष के लिये देखिये—
कलिसन्तरणोपनिषद् २

अर्थ – जब परमात्मा के स्वरूप का द्रष्टा स्वर्ण के समान शुद्ध और ज्योतिर्वर्ण हो संसार के निर्माता, उत्पन्न किये हुए विश्व के स्रष्टा, संसार के कल्याण के लिए वेदज्ञान के योनि अर्थात् बीज या ब्रह्मादि देवताओं के उत्पादक परमात्मा को ज्ञान-ध्यान द्वारा देखता है, तब ज्ञानी श्रौत-स्मार्त-सकाम-कर्म-जनित पुण्य को तथा कुसंगजनित राग-द्वेषोद्भुत पापों को दूर करके अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सारे विश्व को ब्रह्मरूप जानता हुआ, सबको समदृष्टि से देखता हुआ निष्कलंक अर्थात् शुद्ध होकर परम समता को पा लेता है अर्थात् ईश्वर के साथ उसका परम साम्य हो जाता है।

२८०. भक्ति तथा आत्म-निवेदन से ही मोक्ष, अन्य साधन से नहीं

विद्यातपः प्राणनिरोधमैत्री–
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ।।

श्रीमद्भागवत १२/३/४८

अर्थ – अनंत भगवान हृदय में विराजमान हो तब अन्तरात्मा जैसी अत्यन्त शुद्धि को प्राप्त होता है वैसी शुद्धि देवों की उपासना, तप, प्राणायाम, मैत्रीभाव, तीर्थस्नान, व्रत, दान तथा जप करने योग्य मन्त्रों से भी प्राप्त नहीं होती ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य–
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।।

मुण्डकोपनिषद् ३/२/३ /

अर्थ – यह आत्मा न तो प्रवचन (पुष्कल शास्त्राध्ययन) से प्राप्त होने योग्य है और न मेधा (धारणा शक्ति) तथा अधिक श्रवण करने से ही मिलने वाला है । यह (विद्वान) जिस परमात्मा की इच्छा करता है उस (इच्छा) के द्वारा ही इसकी प्राप्ति हो सकती है । उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है ।

२८१. भगवत्पद–(१) संसुप्तवत्, (२) शून्यवत् और (३) अप्रतर्क्य

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं
तमो रजो वा महदादयोऽमी ।
न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा
न सन्निवेशः खलु लोककल्पः ।।
न स्वप्नजाग्रन्न च तत् सुषुप्तं
न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः ।
संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं
तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ।।

श्रीमद्भागवत १२/४/२०, २१

अर्थ – उस प्रधान तत्त्व में वाणी, मन, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, महत्तत्त्व आदि विकार; प्राण, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा उनके देव– यह सर्वलोक रूपी भिन्न-भिन्न रचना नहीं है। वह तत्त्व स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था से मुक्त नहीं है। किन्तु इन्द्रियों के अभाव के कारण सुषुप्ति अवस्था-सा और शून्य-सा है; क्योंकि वह तर्क में आ सके ऐसा नहीं है। जिसमें आकाश, जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि और सूर्य नहीं हैं इस प्रकार के उस प्रधान तत्त्व को विद्वान मूलरूप स्थान कहते हैं ।

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अविद्युतत् सवीमनि ।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः ।।

अथर्ववेद ७/१५/२

अर्थ – जिस परमात्मा का तौल-माप से रहित अर्थात् अपरिमाण ज्योति अर्थात् तेज है। जो तेज परमात्मा की आज्ञा में रहता हुआ सब तेजस्वियों के ऊपर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रहकर अत्यन्त प्रकाशमान हो रहा है। सुन्दर शुभ कर्मोंवाला, तेजस्वी परमात्मा, अपनी शक्ति से अथवा अपनी कृपा से सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रकाश वाले पदार्थों का निर्माण करता है। वही भगवान का परमपद है ।

---

(१) तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् । अयमात्मा ब्रह्म सर्वानु भूरित्यनुशासनम् । (स्वा. सु.)

(२) सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ।। (स्वा. सु.)

२८२. आत्मतत्व--अजर-अमर

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि ।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि ।।
न भविष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान् ।
बीजांकुरवद् देहादेर्व्यतिरिक्तो यथानलः ।।

श्रीमद्भागवत १२/५/२-३

अर्थ – हे राजन् ! आप 'मैं मर जाऊँगा' इस प्रकार की पशु बुद्धि का त्याग कर दें, क्योंकि जिस प्रकार यह देह पूर्व में न था और अभी उत्पन्न होकर नष्ट होगा, उसी प्रकार आप (आत्मा) पूर्व में अथवा अभी उत्पन्न नहीं हुए । अतः नष्ट भी नहीं होने वाले हैं ।

जिस प्रकार बीज अंकुर के रूप में जन्मता है उसी प्रकार आप पुत्र-पौत्रादि के रूप में जन्म लेने वाले नहीं हैं; क्योंकि जिस प्रकार अग्नि लकड़ी से भिन्न है उसी प्रकार आप देहादि से भिन्न हैं । अर्थात् देह उत्पन्न होता है, आत्मा उत्पन्न नहीं होता ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/१३

अर्थ – जो नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन और अकेला ही बहुतों को भोग प्रदान करता है, सांख्य योग द्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देव को जानकर (पुरुष) समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

२८३. आत्मा आकाशवत्

घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा ।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ।।

श्रीमद्भागवत १२/५/५

अर्थ – जिस प्रकार घड़े के टूट जाने पर उसके अन्दर रहा हुआ आकाश पूर्ववत् महाकाशरूप बन जाता है, उसी प्रकार देह के नष्ट होने पर जीव पुनः ब्रह्मस्वरूप बन जाता है । अर्थात् देहरूप उपाधि के कारण

आत्मा को जन्मादि संसार का भ्रम हुआ है । ज्ञान द्वारा वह उपाधि दूर होने पर जीव मुक्त बनता है ।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा।स्तिर्यङ नु सृष्टा।: सर्वा दिश: पुरुष आ बभूवाँ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्या: पुरुष: उच्यते ।।

अथर्व. १०/२[२८

कर्थ – पुरुष ऊपर फैला हुआ है । निश्चयपूर्वक तिरछा फैला हुआ है । तात्पर्य यह कि पुरुष सर्व दिशाओं में है । जो ब्रह्म की नगरी को जानता है, जिस नगरी के कारण वह 'पुरुष' कहलाता है ।

२८४. आत्मा ब्रह्मरूप ही है

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम् ।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ।।

श्रीमद्भागवत १२/५/११

अर्थ – 'मैं हूँ वही परमधाम रूप ब्रह्म है एवं परमपद रूप ब्रह्म वही मैं हूँ' इस प्रकार विचार करते हुए तुम उपाधिरहित ब्रह्म में आत्मा की स्थापना कर ऐक्यभावना धारण करो ।

अहं ब्रह्मास्मि । अयमात्मा ब्रह्म ।

अर्थ – मैं ब्रह्म हूँ । यह आत्मा ब्रह्म है ।

२८५. आत्मा घटाकाशवत्

घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाश: स्याद् यथा पुरा ।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुन: ।।

श्रीमद्भागवत १२[५/५

अर्थ – जिस प्रकार घड़े के टूट जाने पर उसके अन्दर रहा हुआ आकाश पूर्ववत् महाकाशरूप बन जाता है, उसी प्रकार देह के नष्ट होने पर जीव पुन: ब्रह्मरूप बन जाता है ।

घटाकाशमठाकाशौ महाकाशे प्रतिष्ठितौ ।
एवं मयि चिदाकाशे जीवेशौ परिकल्पितौ ।। (स्वा. सु.)

अर्थ – घट एवं मठ में रहा हुआ आकाश महाकाश में ही अवस्थित होने के कारण उसी का अंश है। इसी प्रकार परब्रह्म में चैतन्यमय आकाश में जीव तथा ईश्वर (मुक्त जीव) रहे हुए हैं।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

२८६. वैष्णव-पद

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः ।।
श्रीमद्भागवत १२/६/३२

अर्थ – आत्मा से भिन्न वस्तु का 'यह आत्मा नहीं है' इस प्रकार त्याग करने की इच्छा वाले और आत्मा से भिन्न वस्तु पर प्रेम न रखने वाले पुरुष उस आत्म स्वरूप को ही विष्णु का परमपद कहते हैं तथा देहादि के अहंभाव को छोड़कर समाधिनिष्ठ पुरुषों ने भी ध्यानादि से हृदय में साक्षात्कार कर उसी आत्मस्वरूप का निश्चय किया है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् । यजुर्वेद ६/५

अर्थ – वेदविद्या में पारंगत पंडित द्युलोक में विस्तारित आदित्य-मण्डल को अथवा, निरावरण आकाश में चक्षु की तरह व्याप्त उस श्रीविष्णु के परमपद को सदा देखते हैं।

२८७. सत्यं परं धीमहि

(शुद्धं विमलम् अमृतम्)

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा ।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यत–
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ।।
श्रीमद्भागवत १२/१३/१९

15/5/97

अर्थ – जिन्होंने यह श्रीमद्भागवतरूपी अतुल दीपक, प्रथम कृपापूर्वक ब्रह्मा के आगे, फिर ब्रह्मा के रूप से नारद ऋषि के आगे, नारद के रूप से मुनि वेदव्यास के आगे, वेदव्यास के रूप से योगेन्द्र शुकदेवजी के आगे और शुकदेव के रूप से परीक्षित राजा के आगे प्रकट किया है उस सर्वोत्कृष्ट, शुद्ध, निर्मल, परब्रह्म और शोकरहित अमृतस्वरूप परम सत्य का हम ध्यान करते हैं ।

ॐ सत्यं ज्ञानमनन्तं यन्निष्कलं निष्क्रियं परम् ।
अद्वितीयं निर्विशेषं ब्रह्म तत्समुपास्महे ।।

अर्थ – जो सत्य एवं ज्ञान स्वरूप है जो अनन्त, निष्कल, निष्क्रिय, अद्वितीय तथा निर्विशेष है, उस ब्रह्म की हम उपासना करते हैं ।

२८८. नाम–संकीर्तन का फल

नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ।।
श्रीमद्भागवत १२/१३/२३

अर्थ – जिसका नाम-कीर्तन सब पापों का नाश करने वाला है और जिसको किये हुए प्रणाम सब दुःखों को शान्त करते हैं, उस परमेश्वर श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूँ ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ।।
अथर्व. ६/९४/२

अर्थ – मैं (आपके नाम संकीर्तन से) अपने मन से तुम्हारे मन को बद्ध कर लेता हूँ । तुम अपना चित्त मेरे चित्त के अनुकूल बनाकर आओ । मेरे हृदय को मैं आपके आधीन करता हूँ । मेरे चाल-चलन के अनुकूल चाल-चलन वाले बनकर तुम यहाँ आओ ।

मुद्रण व्यवस्था :
अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् द्वारा स्थापित
श्री वल्लभ प्रकाशन न्यास
'यशो भवन, न्यू पलासिया, स्ट्रीट .नं २
इन्दौर–४५२००१

मुद्रक :
नईदुनिया प्रिन्टरी
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग
इन्दौर-४५२००९